न-शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग

लेखक
पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक
सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई-दिल्ली-२

प्रकाशक :
वीर सेवा मन्दिर सोसायटी (रजि०)
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२



मूल्य : मनन चिंतन :
दो रुपये

प्रथमावृत्ति : १०००
वीर निर्वाण संवत् : २५०८
वि० सं० २०३८
सन् १९८२ ई०



मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेंसी,
सीलमपुर, द्वारा विध्यवासिनी
पेपर्ज, न्यू सीलमपुर, दिल्ली।

अनुक्रमणिका

'मेरा अपना कुछ नहीं, सब आचारज बैन।
लोग भरम मो पर करें, याते नीचे नैन॥

गुरु-वाणी संचय करन, प्रकट करन जिन बैन।
पुण्य कार्य या जगत में, जानें सब ही जैन॥

मन्द-बुद्धि मैं भक्ति-युत, आग्रह मम कछु नाँहि।
तथ्य-अतथ्य विचारिकें, सुधी धरो मन माँहि॥"

पद्मचन्द्र शास्त्री
वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

प्रकाशकीय

जैन आचार, तत्त्वज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्वादि के अनुसन्धान मे वीर-सेवा मन्दिर की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह संस्था ग्रन्थ प्रकाशन एवं 'अनेकान्त' पत्रिका के माध्यम से जनता की सेवा में सतत् संलग्न रही है।

प्रबुद्ध पाठकों के सुझाव पर 'अनेकान्त' के कुछ लेखों का यह संकलन नए आयामों के विचार में सहयोगी होगा। सभी लेख श्री पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित और चिन्तनपूर्ण है।

प्रस्तुत प्रकाशन में विद्वद्वर श्री पं० कैलाशचन्द्र सि० शास्त्री के प्राक्कथन के बाद हमें कुछ लिखना शेष नही रह जाता। पंडित जी ने सभी स्पष्ट कर दिया है। इस कृपा के लिए हम पंडित जी के अति आभारी हैं।

इस प्रकाशन में कम्पोजिंग व छपाई का पूरा व्यय श्री रघुवीरसिंह जैन धर्मार्थ ट्रस्ट (जैना वाच कं०) ने तथा कागज-व्यय श्री मुसद्दीलाल जैन चैरी० ट्रस्ट, दिल्ली ने वहन किया और आवरण-कागज श्री सागरचन्द्र जैन एण्ड संस के सौजन्य से प्राप्त हुआ। ये उन सभी के धर्म प्रेम और संस्था में रुचि का परिचायक है। हम उनका हृदय से धन्यवाद करते है।

सुभाष जैन
महासचिव, वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्राक्कथन

जिन शासन या जैन धर्म आचार और विचार का आकर है। उसमें निहित-तत्त्व चिंतकों और अन्वेषणकर्ताओं के लिए सदा आकर्षण का केन्द्र रहे है। प० पद्मचन्द्र जी ने एक तत्त्वान्वेषक और तत्त्व जिज्ञासु के रूप में जिन-शासन के कुछ विचारणीय प्रसंगों पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश डाल कर अध्ययन की रुचिकर सामग्री प्रस्तुत की है। उनका यह अध्ययन व्यापक है। उन्होंने दिगम्बर साहित्य की ही तरह श्वेताम्बर साहित्य का भी आलोडन किया है और इससे उसका महत्त्व बढ़ गया है, क्योंकि उसमें जिन-शासन की दोनों धाराओं का निष्पक्ष अवगाहन किया गया है।

१. प्रथम विचारणीय प्रसंग है अनादि मूलमंत्र या पंचनमस्कार मंत्र। यह मंत्र समस्त जैनों को मान्य मूलमंत्र है। श्वेताम्बर परम्परा में इसे नवकार मंत्र कहते है क्योंकि पांच नमस्कारों के साथ 'एसो पंच णमोकारो' आदि चार पद जोड़ कर नौ पद होते है। श्वेताम्बरीय लघु नवकार फल में इस मंत्र का माहात्म्य बतलाते हुए इसे जैन शासन का सार और चौदह पूर्वो का उद्धार कहा है।

यथा- "जिणसासणस्स सारो चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे णवकारो, संसारो तस्स किं कुणइ ?"

अर्थात् जो जिन शासन का सार है और चौदह पूर्वो का उद्धार रूप है ऐसा नमस्कार मंत्र जिसके मन में है संसार उसका क्या कर सकता है ?

दिगम्बर सम्प्रदाय में नमस्कार मंत्र का एक ही रूप पाया जाता है किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कुछ भेद है। जिसका विवेचन प० पद्मचन्द्र जी ने किया है। नमस्कार मंत्र में प्रथम चार पदों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तिम पद में अन्तर है। भगवती सूत्र में अन्तिम पद 'णमो बंभीए लिवीए' है अर्थात् साधुओं के स्थान में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है किन्तु उस पर अभयदेव सूरि की संस्कृत टीका में 'णमो सव्व साहूण' पाठ है। तथा 'णमो लोए सव्व साहूण' को उसका पाठान्तर कहा है। इस अन्तिम पद में आए 'लोए' और 'सव्व' पदों को लेकर दिगम्बर परम्परा में भी विवाद चलता है। किन्तु धवला टीका में लिखा है कि ये दोनों पद अन्तदीपक है। अत उनकी अनुवृत्ति पूर्व के

बाकी पदों में भी करनी चाहिए। अर्थात् लोक के सब अरहंतों को नमस्कार हो, लोक के सब सिद्धों को नमस्कार हो, इसी तरह पांचों पदों का अर्थ जानो।

२. दूसरा प्रसंग है— भगवान पार्श्व के पांच महाव्रत। श्वेताम्बर आगमों में ऐसा कथन है कि भगवान पार्श्वनाथ ने चार ही महाव्रत कहे थे— मैथुनत्याग अलग नहीं था उसका ग्रहण परिग्रह त्याग में किया जाता था, क्योंकि स्त्री को ग्रहण किए बिना भोगा नहीं जा सकता। पीछे भगवान महावीर ने अपने तीर्थ में पांच महाव्रतों का उपदेश किया, क्योंकि पार्श्वनाथ के शिष्यों ने उसका दुरुपयोग किया था। इसी का परीक्षण और विवेचन पंडित जी ने अपने लेख में किया है जो विशेष रूप से पढ़ने लायक है।

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में भी यह कथन मिलता है कि बाईस तीर्थंकर सामायिक, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात चारित्र का ही उपदेश करते हैं, क्यों कि उनके समय के साधु सरल और विद्वान् होने से संयम में दूषण नहीं लगाते। किन्तु प्रथम अन्तिम तीर्थंकर पांचवें छेदोपस्थापना संयम का भी उपदेश देते हैं। किन्तु चार और पांच महाव्रतों का कथन दिगम्बर परम्परा में नहीं मिलता। यद्यपि चार और पांच संयमों की तरह चार और पांच महाव्रतों के उपदेश का अन्तर संभव है और इसका समर्थन रौद्रध्यान के चार भेदों से होता है। रौद्र के चार भेद हिंसानन्दी, असत्यानन्दी, चौर्यानन्दी और विषय संरक्षण आनन्दी हैं। विषय संरक्षण में मैथुन और परिग्रह दोनों गर्भित हैं ऐसी ही स्थिति चातुर्याम की हो सकती है।

श्वे० स्थानांग सूत्र (२६६) की टीका में लिखा है 'मध्य' के बाईस तीर्थंकर तथा विदेहगत तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का तथा प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर पंचयाम धर्म का कथन शिष्यों की अपेक्षा से करते हैं। **वास्तव में तो दोनो ही पंच-पंचयाम धर्म का ही प्रतिपादन करते है।** किन्तु प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ के साधु क्रम से ऋजु-जड़ और वक्र-जड़ होते हैं। अतः परिग्रह छोड़ने का उपदेश देने पर परिग्रह त्याग में मैथुन त्याग भी गर्भित है यह समझने में और समझ कर उसका त्याग करने में असमर्थ होते हैं। किन्तु शेष तीर्थंकरों के तीर्थ के साधु ऋजु और प्राज्ञ होने के कारण तुरन्त समझ लेते हैं कि परिग्रह में मैथुन भी गर्भित है क्योंकि बिना ग्रहण किये स्त्री को नहीं भोगा जा सकता।'

३. तीसरा प्रसंग है पर्युषण और दशलक्षण पर्व। भगवती आराधना गाथा ४२३ में साधु के दस कल्प बतलाए हैं। यही गाथा श्वेताम्बर आगमों में भी मिलती है। इनमें अन्तिम कल्प 'पज्जोसवण' है टीकाकार अपराजितसूरि ने

इसका अर्थ किया है वर्षाकाल के चार मासों में भ्रमण का त्याग करके एकत्र रहना। इसका उत्सर्गकाल एक सौ बीस दिन कहा है। कारणवश इसमें कम और अधिक दिन भी रहना सम्भव होता है। इसी के अन्तर्गत दिगम्बरों में भाद्रमास के अन्तिम दस दिनों में दशलक्षण पर्व मनाया जाता है। इसका पुराना नाम पर्युषण पर्व ही है। पं० जी ने श्वेताम्बर मान्यता को सामने रख कर विस्तार से प्रकाश डाला है जो पठनीय है।

४ चतुर्थ विचारणीय प्रसंग समयसार की १५वीं गाथा के तृतीय चरण से सम्बद्ध है। उसके दो पाठ मिलते हैं 'अपदेस सुत्तमज्झं' और 'अपदेशसन्तमज्झं'। आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में इस गाथा का शब्दशः व्याख्यान नहीं है। आचार्य जयसेन ने 'अपदेससुत्तमज्झं' पद का व्याख्यान किया है और उसे 'जिणसासणं' का विशेषण माना है किन्तु अमृतचन्द्र जी ने शब्दशः व्याख्यान नहीं करके भी प्रकारान्तर से उसका व्याख्यान किया है ऐसा लगता है। १४वीं गाथा में कहा है जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखता है उसे शुद्ध नय जानो। १५वीं गाथा में इन पांच विशेषणों में से अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष ये चार विशेषण ही लिए हैं। दो विशेषण नियत और असंयुक्त छोड़ दिये हैं। किन्तु अमृतचन्द्र जी टीका में पूर्वोक्त पांच विशेषणों से विशिष्ट आत्मा की अनुभूति को समस्त जिन-शासन की अनुभूति कहते हैं क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपदेससन्तमज्झं' में ही विशेषण छिपे हुए हैं। पं० जी ने इसी पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जयसेन जी ने जो व्याख्यान किया है उसमें मज्झ पद का व्याख्यान नहीं है यथा शब्द समय से वाच्य और ज्ञान समय से जो परिच्छेद्य है उसे अपदेशसूत्रमध्य कहते हैं। इसी तरह पं० जी ने 'सन्तमज्झं' पद रख कर जो 'आत्मा को आत्मा के मध्य' अर्थ किया है वह भी गले नहीं उतरता। इसमें तो प्रदेश अर्थात् आदि और अन्त सहित मध्य से रहित अर्थात् 'आदि अन्त मध्य रहित' अर्थ अधिक उपयुक्त जंचता है। अमृतचन्द्र जी ने दसवें कलश में शुद्धनय का स्वरूप दर्शाते हुए आत्मस्वभाव का एक विशेषण 'आद्यन्तविमुक्त' कहा है उसके साथ भी उक्त अर्थ की संगति बैठ जाती है अतः उक्त चरण का अर्थ अभी भी विचारणीय ही प्रतीत होता है।

५ पांचवा प्रसंग भाषा सम्बन्धी है। आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत के सम्बन्ध में स्व० डा० ए० एन० उपाध्याय ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में विस्तार से प्रकाश डाला है और वह इस विषय के अधिकारी विद्वान् थे।

प० जी ने भी उसको देखा है। प० जी का यह लिखना यथार्थ है कि प्राकृत भाषा के ग्रन्थों को भाषा की दृष्टि से संशोधन करना ठीक नहीं है संस्कृत भाषा का तो एक बंधा हुआ स्वरूप है किन्तु प्राकृत भाषा की विविधता में यह संभव नहीं है इसमें अर्थ में विपर्यास का भय रहता है।

६ छठा प्रसंग है आत्मा का असंख्यातप्रदेशित्व। यह कोई विवाद-ग्रस्त विषय नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिक के पांचवे अध्याय के ८वें सूत्र में अकलंक-देव ने द्रव्यों की प्रदेशकल्पना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। निश्चयनय से आत्मा को असंख्यात प्रदेशी कहा है। जैनदृष्टि से जो सर्वथा अप्रदेशी है वह अवस्तु है किन्तु अकलंकदेव ने शुद्ध नय से उपयोग स्वभाव आत्मा को अप्रदेशी कहा है यहाँ अप्रदेशी का मतलब एक भी प्रदेश न होना नहीं है किन्तु अखण्ड अनुभव से है। वही शुद्धनय का विषय है।

अन्तिम प्रसंग है स्वास्तिक। प० जी ने इस पर नवीन दृष्टि से विचार किया है अभी तक तो यही माना जाता रहा है कि सीधी और आडी दोनों लकीरें जीव और पुद्गल के सम्बन्ध की सूचक है और उसका फल चार गतियों में भ्रमण है। उसी का प्रतीक स्वास्तिक है। किन्तु प० जी ने उसे चमत्कारि-मंगल से जोडा है यह प्रसंग भी पढ़ने योग्य है। प० जी के उक्त प्रसंगों के सभी विवेचन पढ़ने योग्य है।

वाराणसी
२७-२-८२

(सिद्धान्ताचार्य) कैलाशचन्द्र शास्त्री

अनादि मूलमंत्रोऽयम् ।

जैन समाज में णमोकार मंत्र का प्रचलन सनातन से है। सभी इसे 'सर्व-पापप्रणाशनो' और 'पढमं हवइ मंगलं', रूप में मानते, पढ़ते और स्मरण करते हैं। मान्यता ऐसी है कि प्रसिद्ध यह मंत्र अनादिमूल और अपराजित है 'अनादिमूलमंत्रोऽयम्', 'अपराजितमंत्रोऽयम्' इत्यादि।

जहाँ तक मंत्र के अनादित्व की बात है, सिद्धान्तरूप से नैगमनय की अपेक्षा अर्थात्—'जो सत् है उसका नाश नहीं' की रीति से णमोकार भी अनादि माना जायगा, हर चीज के मूल को अनादि माना जायगा। यतः

'सत्तामित्तग्गाही जेणाऽऽस्स-णेगमो तओ तस्स ।
उप्पज्जइ नासय भंग न य नासए वत्थु ॥

नैगमनय सत्तामात्रग्राही होता है। इसकी अपेक्षा वस्तु सर्वदा सत्स्वरूप ही होती है, चाहे वह किसी भी पर्याय में क्यों न हो। इस भावना से मंत्र और मंत्र के पात्र परमेष्ठी दोनों ही अनादि सिद्ध होते हैं। यतः जैनमान्यतानुसार आत्मा ही परमात्मा सिद्ध स्वरूप है। और आत्मा के विकासक्रम में साधु, उपाध्याय, आचार्य और अरहंत भी आत्मा-परमात्मा की भाँति अनादि हैं। ये क्रम प्रवाह रूप में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में सदा वर्तमान रहते हैं।

जैन मान्यतानुसार पाँचों परमेष्ठी अनादि काल से होते रहते हैं और अनन्तकाल तक इनके होते रहने में कोई संदेह नहीं। तीर्थंकर क्रम से भूतकाल में अनंत चौबीसी हुई हैं और भविष्यकाल में अनंत होती रहेंगी। विदेह क्षेत्र में इनकी सत्ता सर्वकाल विद्यमान है ही। जो अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए वे सिद्ध हुए, जो अरहंत अवस्था को प्राप्त होंगे वे सिद्ध होंगे इसमें भी संदेह नहीं। अभ्यास दशा की श्रेणी में विद्यमान (भूत-वर्तमान-भविष्यत्काल सम्बन्धी) आचार्य, उपाध्याय और साधु भी अनादि-अनंत (सत्ता की अपेक्षा) रहे, और रहेंगे। और जब-जब ये हैं तब-तब इनको नमन भी है। अतः इनके नमनभूत णमोकार भी [सत्ता की अपेक्षा] अनादि है। इसीलिए कहा है

'स नमस्कारो, नित्य एव, वस्तुत्वात् नभोवत्। नोत्पद्यते नापि विनश्य-तीत्यर्थः।'

वह नमस्कार नित्य—सदाकाल है, वस्तु होने से। जो जो वस्तु है वह

रहे [द्रव्य की अपेक्षा] नित्य है। जैसे आकाश द्रव्य की अपेक्षा आकाश न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी विनाश को प्राप्त हुआ। हां, पर्यायों के परिवर्तनरूप से उसे अनित्य- घटाकाश मठाकाश इत्यादि कहा जाता है। जो आकाश अभी समयपूर्व घटाकाश कहलाता था वही घट के नष्ट होने पर (मठ में स्थित होने से) मठाकाश कहलाया। पर अस्तित्व की अपेक्षा से 'नासतो विद्यतेऽभावो नाऽभावो विद्यते सतः।' जो सत् है उसका नाश नहीं और असत् कभी पैदा होता।'— ऐसा नियम है। इसी परिधि की अपेक्षा णमोकार को अनादि माना गया है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि माना णमोकार मंत्र के सभी पात्र और उनके लिए नमन, अर्थात् णमो, पद पद की पृथक्-पृथक् सत्ता आदि की अपेक्षा अनादि है, पर यह निश्चय कैसे किया जाय? कि णमोकार की शृंखला में अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और सर्वसाधु का ही निश्चित स्थान (भी) अनादि है। यदि इन्हीं का स्थान निश्चित है तो इस मंत्र के विभिन्न रूप देखने में क्यों आते हैं? और यदि वे रूप सत्य हैं तो ऐसा मानना पड़ेगा कि— विविधता होने के कारण णमोकार मंत्र अनादि नहीं है।

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हम (नामों की अपेक्षा) णमोकार मंत्र के सभी रूपों पर दृष्टिपात करना होगा। तथाहि

प्रथमरूप

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं **णमो लोए सव्वसाहूणं ॥'**

—षट्खण्डागम

द्वितीयरूप

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं **णमो सव्वसाहूणं ॥'**
णमो लोए सव्वसाहूणं इति क्वचित् पाठः।'

श्री भगवती सूत्र (मंगलाचरण) निर्णय सा० स० १९३८

अभिधान राजेन्द्र (आगम कोष) के उल्लेख के अनुसार—भगवती का उद्धरण इस प्रकार है जो मंत्र के तृतीय रूप को इंगित करता है—तथाहि—

तृतीयरूप -

'यतो भगवत्यादावेव पञ्चपदान्युक्तानि—
नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं।

[illegible] णमो अरिहंताणं [illegible] ।
[illegible] णमो लोए सव्वसाहूणं [illegible] ।

[illegible] १८०२

[illegible] है [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible]
स्वामी जी [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible]

जब [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible] और [illegible]
[illegible] है ।

यदि णमो अरिहंताणं [illegible] अनादि माना जायगा [illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] । [illegible] अनादि [illegible] ।
[illegible]

यदि [illegible]
[illegible]
[illegible] । [illegible] नहीं है । [illegible] मे जो भिन्न-
भिन्न [illegible] मिलते है वे निम्न प्रकार है –

प्रथमरूप

अरहंत नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं **पढमं** हवइ मंगलं ॥

द्वितीयरूप –

'**सिद्धाण** नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं **बीयं** हवइ मंगलं ॥

तृतीयरूप—

'**आयरिय नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।**
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥'

चतुर्थरूप—

'उवज्झाय णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाण च सव्वेसिं, चउत्थं हवइ मंगलं ॥'

पंचमरूप—

'साहूण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाण च सव्वेसिं, पंचमं हवइ मंगलं ॥'

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि भगवती जी के पाठ को प्रचलित मूलमंत्र के सन्दर्भ में नहीं जोड़ा जा सकता ।

इसके सिवाय एक कारण और भी है और वह है—'नवकार मंत्र के उच्चारण के विधान का प्रसंग । एक स्थान पर कहा गया है कि—

'वण्णऽट्ठसट्ठि नवपए, नवकारे अट्ठसंपया तत्थ ।
सगसंपयपयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया ॥२२६॥

सम्प्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते—वर्णा अक्षराणि अष्टषष्टि, नमस्कारे पंचपरमेष्ठिमहामन्त्ररूपे भवन्तीतिशेष. ।
उक्तं च

'पंचपयाण पणतीसं वण्ण चूलाइवण्ण तित्तीसं ।
एवं इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए ॥'
सत्तपण सत्त सत्त य, नव अट्ठ य अट्ठ अट्ठ नव पहुंति ।
इय पय अक्खरसंखा, असह पूरेइ अडसट्ठी ॥'

अभि० रा० भाग ६, पृ० १८३६

उक्त पाठ प्रामाणिक स्थलों में उद्धृत है और इनमें कहा गया है कि मंत्र की पूर्णता ६८ अक्षर प्रमाण मंत्र के पढ़ने पर होती है । अतः मंत्र को ६८ अक्षरों में पढ़ना चाहिए । अर्थात् पूरा पाठ इस भांति ६८ अक्षरों का बोलना चाहिए

'ण मो अ रि ह ता ण, ण मो सि द्धा ण, ण मो आ इ रि या ण ।
ण मो उ व ज्झा या ण, ण मो लो ए स व्व सा हू ण ॥
ए सो पं च न मो क्का (या) रो, स व्व पा व प्प णा स णो ।
मं ग ला ण च स व्वे सिं, प ढ मं ह व इ मं ग लं ॥'

यदि उक्त पदों के स्थान में अधूरारूप—'णमो सव्व साहूण' बोला जाता है, तो 'लोए' ये दो अक्षर कम हो जाते हैं और यदि 'णमो बंभीए लिवीए' बोला जाता है तो एक अक्षर कम हो जाता है । दोनों ही भांति मंत्र वैसा युक्तिसंगत नहीं बैठता जैसा कि इष्ट है । अतः—

निष्कर्ष निकलता है कि—अभि० राजेन्द्र कोष की पंक्तियां इस दिशा में स्पष्ट हैं—

'आयरिय हरिभद्देणं जं तत्थायरिसे दिट्ठं, तं सव्वं समतीए सोहिऊणं लिहिअं ति अन्नेहिं पि सिद्धसेण दिवायर वुड्ढवाइजक्खसेण देवगुत्त जसवद्धण खमासमणसीस रविगुत्त नेमिचंदजिणदासगणि खवगसच्चसिरिपमुहेहिं जुगप्पहाण सुयहरेहिं बहुमन्नियमिणं ति [महा० ३ अ०] अन्यत्र तु सर्वासु वर्तमानाऽऽगमः, तत्र मध्ये न कुत्रापि एव नवपदात्मक-सारादि प्रमाणो नमस्कारः दृश्यते। ततो भगवत्यादावेव पञ्चपदान्युक्तानि 'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो बंभीए लिवीए' इत्यादि।'

[अभि० रा० भाग ६, पृ० १८३७]

इसका अर्थ विचारने पर यही सिद्ध होता है कि सभी आचार्य - हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, जसवर्धन, क्षमाश्रमण-शिष्य रविगुप्त, नेमिचन्द, जिनदासगणि आदि ६८ अक्षरों वाले पाठ को युक्ति-संगत मानते हैं और वही षट्खण्डागम के पाठ तथा अन्य आगमों के पाठों में [पञ्चपद व पैंतीस अक्षर की मान्यता से भी] ठीक बैठता है और मंत्र की एकरूपता को भी सिद्ध करता है। जब कि श्री भगवती जी का पाठ उक्त श्रेणी में अनुकूल नहीं बैठता।

भाषा और लिपि जो भी हो [दोनों ही परिवर्तनशील हैं] पर, संगठन और पात्रों की दृष्टि से मंत्र के युक्ति-संगत-अनादित्व को सिद्ध करने वाला रूप--प्रथमरूप ही है, जो पंचपरमेष्ठी गर्भित रूप है। 'बंभीए लिवीए' मूलमंत्र का अंग नहीं है। हां, यदि इस पद को मंत्र मानना इष्ट हो तो अन्य बहुत से मंत्रों की भांति आठ अक्षरों वाला एक पृथक् मंत्र स्वीकार किया जा सकता है।

एक बात और, भगवती जी में [जैसा कि पहिले मंत्र के द्वितीय रूप में बतलाया जा चुका है] मंत्र के अन्तिम पद में 'लोए' पद के न होने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि वहां मंत्र में गर्भित 'सव्व' पद के प्रयोजन को तो सिद्ध किया गया है, जो कि अन्य चार पदों की अपेक्षा विशेष है। पर, लोए का प्रयोजन नहीं बतलाया गया। यदि वहां 'लोए' शब्द होता तो सूत्रकार उसका भी प्रयोजन बतलाते। क्योंकि 'लोए' भी 'सव्व' की भांति- अन्य पदों से विशेष है। तथाहि—

'यहां पर 'सव्वसाहूणं' पाठ में 'सव्व' शब्द का प्रयोग करने से सामयिक विशेष, अप्रमत्तादिक, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, यथा-

सिद्धादि कल्पिक, प्रत्येक बुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधित प्रमुख गुणवंत साधुओं को भी ग्रहण किये है।' —विवाहपण्णत्ति [भगवती] पृ० २, अमो० ऋ०

हां, 'क्वचित् नमो लोए सव्वसाहूणं इति पाठः'—के संदर्भ में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि- 'लोए' का ग्रहण, गच्छ-गण आदि मात्र का ही ग्रहण न माना जाय, अपितु समस्त साधुओं का ग्रहण किया जाय—इस भाव से किया गया है। इसमें 'क्वचित्' का अर्थ भगवती से अन्यत्र स्थलों से ही लिया जायगा भगवती में नहीं।

एक स्थान पर 'बंभीलिवी' का अर्थ ऋषभदेव किया गया है। अनुमान होता है कि ऐसा अर्थ किसी प्रयोजन खास की पूर्ति के लिए किया गया होगा। अन्यथा, लिपि तो, लिपि ही है उसे ऋषभदेव के अर्थ में कैसे भी नहीं लिया जा सकता है। 'लिपि' मूर्ति-मात्र है और उसे नमन करना मूर्तिपूजा का द्योतक होता है शायद, इसी दोष के निवारण के लिए किन्हीं ने ऐसा अर्थ किया गया हो अस्तु, जो भी हो स्थल इस प्रकार है—

'यहां पर सूत्रकार ने अक्षर स्थापनारूप लिपि को नमस्कार नहीं करते हुए लिपि बनाने वाले ऋषभदेव स्वामी को नमस्कार किया है और भी वीर-निर्वाण पीछे ९८० वर्ष में पुस्तकारूढ ज्ञान हुआ, इससे लिपि को नमस्कार करना नहीं संभवता है।'

- विवाह पण्णत्ति [वही] पृ० ३ टिप्पण अमो० ऋ०

उक्त प्रसंग से यह तो स्पष्ट है कि षट्खण्डागम एवं आगम परम्परा में सभी जगह [भगवती के अतिरिक्त] णमोकार मंत्र की एकरूपता अक्षुण्ण रही है—उसके रूप में कहीं भिन्नता नहीं है। अर्थात् आगम-परम्परा की दृष्टि से भगवती का पाठभेद मेल नहीं खाता। सम्भव है— विद्वानों ने उस पर विचार किया हो या 'णमो बंभीए-लिवीए' पद मानते हुए और मूलमंत्र में 'लोए' पद न मानते हुए भी मूलमंत्र की अनादि एकरूपता पर अपनी सहमति प्रकट की हो।

स्मरण रहे कि उक्त सभी प्रसंग णमोकार मंत्र के 'अनादित्व' की दिशा में प्रस्तुत किया गया है। स्वतन्त्ररूप से जैन-आगमों में वर्णित सभी मंत्रों का हम सम्मान करते हैं, चाहे वे (वीतराग मार्ग में) किसी रीति से—किन्हीं शब्दों और गठनों में बद्ध क्यों न किये गये हों। ब्राह्मी लिपि अनादि नहीं है इस सम्बन्ध में निम्न प्रसंग ही पर्याप्त है-—

'लेह लिवीविहाणं, जिणेण बंभीएदाहिणकरेण॥

—गा० नि० ब० ४७

'लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वाल्लिपि-विधानं तच्च जिनेन भगवता ऋषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिण करेण प्रदर्शितमतएव तदादित आरभ्य वाच्यते ॥'
—अभि० राजे० द्वि० पृ० ११२६

लिपिः पुस्तकाऽऽदौ अक्षरविन्यास सा अष्टादशप्रकारापि श्रीमन्नाभेय-जिनेन स्वसुताया ब्राह्मी नामिकायार्दशिता, ततो ब्राह्मीनाम त्यभिधीयते ॥'
--अभि० राजे० पचम पृ० १२८४

'अष्टादशलिपि ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना ।'
मे० म० पु० प० ११२।१६३

उक्त तथ्यो मे स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ जो उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से ससार मे किया फिर ऋषभदेव युग की आदि मे हुए, उन्हें भी अनादि नही माना जा सकता। एतावता यह टिप्पण भी मत्र के अनादित्व की दिशा मे निर्मूल बैठता है कि ब्राह्मी का अर्थ ऋषभदेव किया जाय। क्योंकि मत्र के अनादित्व मे ऋषभ अर्थ का विधान भी (ऋषभ के सादित्व के कारण) वर्ज्य है। यदि मत्र अनादि है तो उसमें ऋषभ (व्यक्ति) को नमस्कार नहीं, और यदि ऋषभ को नमस्कार है तो मंत्र अनादि नही। अत निष्कर्ष निकलता है कि मूलमत्र-परमेष्ठी नमस्कारात्मक रूप है और वही अनादि है जैसा कि षट्खंडागम तथा अन्य आगमों मे कहा गया है--

णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाण णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥'
षट्खडागम मगलाचरणम्

'धवला' मे पच-परमेष्ठियों का स्वरूप इस भाति वर्णन किया गया है -

(१) अरिहंत (अरहत)-- जिन्होंने नरक तियंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुखों के मूल कारण मोह और तदाधीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय चार कर्मरूपी शत्रुओं कर्मरूपी रज को नष्ट किया है वे अरिहंत होते है। देव असुर और मनुष्यो के द्वारा सातिशय पूज्य होने से इन्हें अर्हन् भी कहा जाता है। और भी—

'णिट्ठ्ठ-मोह-तरुणो विच्छिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा, बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥२३॥
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा, सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥२४॥

णिग्घण-णिम्मूलघाइय, मोहंधासुर-कबंध-विंद-हरा ।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता' ॥२५॥

(२) **सिद्ध**— जो पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृत्यकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। (अरहन्तावस्था केवलज्ञानी की सकल—सशरीरी अवस्था है और सिद्ध अशरीरी आत्मामात्र निराकार होते हैं और लोकाग्र—ऊर्ध्वभाग में विराजमान होते हैं) —

'णिहय विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा विहुय-दुक्खा ।
सुह-सायर-मज्झ गया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा' ॥२६॥

(३) आचार्य जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों को स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

'सगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ महिय-कित्ती ।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥'३१॥

(४) **उपाध्याय** जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष मार्ग के इच्छुक शीलधारी मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय कहते हैं—

'चोद्दस-पुव्व-महोयहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीण ।
सीलधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो ॥'३२॥

सर्वसाधु- जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं।—

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी ।
खिदि-उरगंवर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू ॥'३३॥

□□

भगवान पार्श्व के पंचमहाव्रत

दिगम्बर मान्यतानुसार, जैन आगमों की वर्तमान शृंखला, युग के आदि-नेता तीर्थंकर ऋषभदेव से अविच्छिन्न रूप में जुड़ी हुई है। ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मार्ग को सभी तीर्थंकरों ने समान रूप से प्रवर्तित किया है। इसके मुख्य कारण ये भी हैं कि –

१—सभी तीर्थंकर सम-सर्वज्ञ थे अर्थात् सबका ज्ञान पूर्ण सदृशता को लिए था।

२—सभी की देशना निरक्षरी थी।[1]

३—सभी की सर्वज्ञावस्था की प्रवृत्ति मन के विकल्पों से रहित थी। उसमें हीनाधिक वाचन को स्थान [विकल्पों के अभाव में] नहीं था।

तीर्थंकरों ने साधुओं के मूलगुण २८, आचार्यों के ३६ और श्रावकों के व्रत १२ ही बतलाए। इन सबकी संख्या में और सभी के लक्षणों में कोई भेद नहीं किया। इसी प्रकार धर्म १०, पाप ५ और संज्ञा ४ की संख्या और लक्षणों में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया', 'बीच के बाईस तीर्थंकरों के समयों में भी चार ही महाव्रत थे'—आदि, उपयुक्त नहीं जँचता, और ऐसी घोषणाओं में कि 'तत्कालीन लोगों की बुद्धि तीव्र या मंद थी या वे सरल और कुटिलता के भेद को लिए हुए थे' आदि कारण बताना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक मैं समझता हूं 'चातुर्याम' की मान्यता की स्पष्ट घोषणा श्वेताम्बर आगमों की है[2]। इसी के अनुरूप संयम के प्रसंग में दिगम्बरों में भी

---

१. 'महावीर'' देह में भी विदेह थे उन्हीं की 'निरक्षरी''' वाणी की अनुगूंज वातावरण में है।' समणसुत्तं, भूमिका पृ० १६

'गणधर —जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान को 'शब्दबद्ध' करते हैं।

- वही, प२० शब्दकोष पृ० २६४।

समणसुत्त—'यह एक सर्व सम्मत प्रातिनिधिक ग्रन्थ है।' —वही, भूमिका

२. 'चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥ —(उत्तरा० २३/१२)
पुरिमा उज्जुजड्डाउ वक्कजड्डाय पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्नाउ तेण धम्मे दुहा कए ॥'—(उत्तराध्ययन, २३।२६)

एक उल्लेख पाया जाता है¹। दिगम्बरों की ओर से चातुर्याम की कई बार कई विद्वानों ने पुष्टि की है। जैसे--

१—'पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया था।'

२— 'चातुर्याम रूप धर्म के सस्थापक पार्श्वनाथ थे यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।'

३ 'भगवान पार्श्वनाथ के द्वारा सस्थापित चातुर्याम धर्म के आधार पर ही भगवान महावीर ने पंच महाव्रतरूप निर्ग्रंथ मार्ग की ''स्थापना की।' आदि

जहां तक मुझे स्मरण है—इन्दौर से प्रकाशित 'तीर्थंकर-मासिक' के 'राजेन्द्रसूरि-विशेषांक' में भी दो विद्वानों के लेखों में ऐसी ही बातें दुहराई गई थी। इस समय मेरे समक्ष अंक न होने से उद्धरण नहीं लिख पा रहा हूं। यदि दि० विद्वानों की चातुर्याम संबंधी बात को माना जाय—जैसा कि होना भी चाहिए तो निम्न प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१—दि० मान्यता में चातुर्याम स्वीकार करने पर साधुओं के २८ मूलगुणों की संख्या कैसे पूरी होगी? क्यों कि ब्रह्मचर्य अपरिग्रह में गर्भित होने से महाव्रतों में एक कम करना पड़ेगा।

२- क्या कहीं साधुओं के मूलगुण २७ होने का उल्लेख है?

३ आचार्यों के मूलगुणों में ३६ के स्थान पर ३५ की ही संख्या रह जायगी (एक महाव्रत तो कम हो ही जायगा) पर ब्रह्मचर्य धर्म का अन्तर्भाव (महाव्रतों की भाँति) आकिंचन्य में करना अनिवार्य हो जायगा। इस आपत्ति का निराकरण कैसे होगा?

४ क्या कहीं आचार्य के मूलगुण ३५ होने का उल्लेख है?

५ - क्या चातुर्याम और पचमहाव्रत की विभिन्न मान्यताओं में तीर्थंकरों की देशना को विशेष ध्वनि रूप या अनक्षरी मानने में बाधा उपस्थित न होगी?

६—क्या विभिन्न स्वभाव और विभिन्न बुद्धि के लोगों की अपेक्षा से हुई ध्वनि में मन का उपयोग न होगा?

७- क्या कहीं उन पापों की संख्या चार मानी गई है जिनके परिहार रूप चातुर्याम होते है? यदि बाईस तीर्थंकरों ने चार पाप बतलाए हों तो

१. 'बावीस तित्थयरा सामायियं संजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य॥' —(मूला० ७।५३३)
पुरिमा य पच्छिमा विहु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥' —(मूला० ७।५३५)

२. 'बुक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।'

उल्लेख ढूंढना चाहिए। शायद कहीं कुशील को परिग्रह में सम्मिलित कर दिया हो?

८—संज्ञायें चार के स्थान में कहीं तीन बतलाई है क्या? यत मैथुन परिग्रह में अन्तर्भूत हो जाएगा।

९—महावीर ने दीक्षा के समय चातुर्याम धारण किए या पंचमहाव्रत? यदि पंचमहाव्रत धारण किए तो वे २२ तीर्थंकरों की परम्परा में कैसे माने जाएंगे? यदि चातुर्याम में दीक्षित हुए तो आदि के तीर्थंकर की धर्म परम्परा में कैसे माने जायेंगे?

१०—क्या कहीं १० धर्मों के स्थान पर, ब्रह्मचर्य को आकिंचन्य में गर्भित किया गया है और धर्मों की संख्या ९ बतलाई गई है?

११—स्त्री को परिग्रह में गिनाया गया है या नहीं? यदि गिनाया गया है तो संख्या के परिमाण की दृष्टि से अथवा भोग की दृष्टि से?[1]

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जायेंगे। ऐसे प्रश्नों के निराकरण के अभाव में समस्त आगम ही सावरण (सदोष) हो जायेंगे। अतः दि० विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वे पुनर्विचार करें। मेरी बुद्धि से तो ऐसा है कि सभी तीर्थंकरों के उपदेश समान रहे हैं। कहीं किंचित् भी अन्तर नहीं आया है। जो भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह सब आचार्यों की देन है जो उन्होंने समय-समय पर लोगों की दृष्टि से किया है।

यदि हम श्वेताम्बर परम्पराओं के उल्लेखों पर विचार करें तो हमें वहां ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि पार्श्व से पूर्व भी पंचमहाव्रतों का चलन रहता रहा है। आचार्य हेमचन्द्र जी पार्श्वनाथ द्वारा दिए उपदेश को जिस भांति बतलाते हैं उसमें ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में गर्भित नहीं माना जा सकता। अर्थात् पार्श्वनाथ द्वारा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक किया गया हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। यथा

'सद्विधा सर्वतो विरति देशविरतिभेदतः।
संयमादि दशविधो, अनगाराणा स आदिम ॥'

(त्रि० श० पु० च० पर्व ९, सर्ग ३)

यह पार्श्वनाथ का उपदेश है। इसमें मुनिधर्म, संयम आदि के रूप में दस प्रकार का बतलाया है। ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव अपरिग्रह में नहीं किया गया।

---

१. 'क्षेत्रं वास्तु धन धान्य, द्विपद च चतुष्पादम्।
बाह्यानां गोमहिष मणिमुक्तादीना चेतनाचेतनानाम् ॥'—

यदि तीर्थंकर को दोनों में से एक ही रचना इष्ट होता है तो वे धर्मों में दस के स्थान पर नौ का ही विधान करते। आगमों में जो संयम कहे हैं वे हैं —

'खन्ती य मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे।

सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइ धम्मो॥'

(२) पार्श्व से पूर्व तीर्थंकर नेमिनाथ ने वरदत्त को जो उपदेश दिया है उसमे भी पंच महाव्रतों की पुष्टि होती है। उन्होंने 'सावद्य योगविरति' को चारित्र कहा। और अवद्यों (पापों) की संख्या सदा पांच रही है अतः पांच पापों की पृथक्-विरति पंचमहाव्रतों को ही सिद्ध कर सकती है। श्लोक इस प्रकार है -

सावद्य योगविरतिश्चारित्रं मुक्तिकारणम्।

सर्वात्मना यतीन्द्राणां देशतः स्यादगारिणाम्॥

—(त्रि० श० पु० च० पर्व ८ सर्ग ६)

(३) दीक्षा ग्रहण करते समय तीर्थंकर पांचों पापों के सर्वथा त्याग की घोषणा करते हैं। परिग्रह गर्भित अब्रह्म जैसे चार के त्याग की घोषणा नहीं करते और न कहीं पापों की चार संख्या का विधान ही किया गया है। तीर्थंकरों की घोषणा है

'सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं।'

(४) सुमतिनाथ के जीव ने पुरुषसिंह राजा रूप पूर्वपर्याय में विनयनंदन आचार्य से पांच महाव्रतों का उपदेश सुना— 'सीलमइयो उण धम्मो पंचमहव्वय परिपालणं खंति मद्दव-अज्जव मणोसचित्तथिरीकरण…।'

…चउप्पण्ण महापुरुष चरिय पृ० ७३

(५) नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के उपदेश में त्रेसठ शलाका पुरुष चरित्र में पापों की संख्या ५ है अतः फलित होता है कि पापपरिहार रूप महाव्रत भी ५ ही रहे हैं -

'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मसहारम्भपरिग्रहाः।'—१२०,

—त्रि० श० पु० च० पर्व ३ सर्ग ७ पृ० ६३

(६) तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय में ब्रह्मचर्य की गणना स्वतन्त्र रूप से होती रही है—अपरिग्रह में नहीं, ऐसे भी प्रमाण मौजूद हैं। उस समय भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात (मुनि अवस्था में) पृथक रूप से निर्दिष्ट होती रही है। विवाह के प्रसंग में (जब नेमिनाथ राजुल से विवाह नहीं करना चाहते तब राजघराने की) अन्य रानियां नेमिनाथ से कहती हैं—

'समये प्रतिपत्स्येथा ब्रह्मापि यथारुचि ।
गार्हस्थ्ये नोचित ब्रह्म, मनोद्गार इवाश्रुपी ॥'
—(त्रि० श० पु० च० पर्व ८।१०५ हेमचन्द्राचार्य

(७) तीर्थंकर नेमिनाथ की एक भविष्यवाणी में भी ब्रह्मचर्य की बात स्पष्ट है और अपरिग्रह में उसे नहीं जोड़ा गया है। इससे भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य पृथक् रूप से स्वतन्त्र रूप में माना जाता रहा है -

'पुरा नमिजिनेनोक्त नेमिरर्हन् भविष्यति ।
कुमार एव सन्नेव, नाथो राज्यश्रियाय मन् ॥३५॥
प्रतीक्षमाण समय जन्मनो ब्रह्मचार्यवम् ।
अदास्यते परिव्रज्या मान्यथा कृष्ण चिन्तय ॥३६॥

उक्त आकाशवाणी है, जो अरिष्टनेमि के सबध में २१वे तीर्थंकर नमिनाथ द्वारा कभी (पहिले) की गई भविष्यवाणी को इगित करती है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य की महिमा २१वे तीर्थंकर के समय मे भी पृथक् रूप में गाई जाती रही है, अपरिग्रह गर्भित रूप में नहीं।

(८) भगवान पार्श्वनाथ से पहिले के तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने थावर्चापुत्र को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और उन्हें १००० शिष्यपरिवार साथ करके विहार की आज्ञा दी। थावर्चापुत्र अपने शिष्यों के साथ विहार करते-करते सौगन्धिका नगरी में पहुँचे। उस नगरी में सुदर्शन नामक सेठ रहता था। उस सेठ ने पहिले कभी किसी 'शुक' नामक सन्यासी से सांख्यमत का उपदेश सुना था और वह सांख्यमत का श्रद्धालु हो गया था। जब वह उनके पास गया। थावर्चापुत्र को देखकर सुदर्शन सेठ ने पूछा कि आपका धर्म कैसा है? तब थावर्चापुत्र ने धर्मोपदेश में "पचमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश किया। यदि बीच के तीर्थंकरों के समय में चातुर्याम ही थे तो बाईसवे तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य ने पचमहाव्रतों का धर्म क्यों कहा? वे चातुर्याम रूप में ही उनका व्याख्यान करते। इसका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि पचमहाव्रतों का पूर्व सभी तीर्थंकरों के समय में एक जैसा चलन ही रहा है। प्रसग का मूल इस भांति है—

'ततेण थावच्चापुत्ते अणगारे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइ अहिज्जति बहूहि जाव चउत्थ विहरति ॥२६॥

'ततेणं अरहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स त इब्भाइय

अणगारे सहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे विहरइ ॥३७॥ —[ज्ञाताधर्मकथा, सेलगराजर्षि-अध्ययन ५, पृ० २२२ श्री अमोलक ऋषि, सिकन्द्राबाद प्रकाशन]

सुदर्शन का थावच्चापुत्र से प्रश्नोत्तर—

'सुदंसणा किं मूलए धम्मे पण्णत्ते? तएणं थावच्चापुत्ते सुदंसणेणं एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं एवयासी—सुदंसणा विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। सेवि य विणए दुविहे पण्णत्ते तं जहा—आगार विणए य अणगार विणए य तत्थणं जे से आगार विणए सेणं पंच अणुव्वयाइं सत्त सिक्खावयाइं, एक्कारस उवासग पडिमाओ। तत्थणं जे से अणगार विणए सेणं पंच महव्वयाइं तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं·········॥४१॥ —(वही पृ० २५०)

(६) यद्यपि अभिधान राजेन्द्रकोष में जहाँ परिग्रहों (बाह्य परिग्रहों) का संकेत है वहाँ उनमें 'द्विपद' का उल्लेख है—स्पष्ट रूप में स्त्री का उल्लेख नहीं है यथा—'धन धान्य क्षेत्र वास्तु रूप्य सुवर्ण कुप्य 'द्विपद' चतुष्पदाश्च।' तथापि यदि यथाकथंचित् स्त्री को द्विपद रूप परिग्रह माना जाता है तो वह मात्र संख्या-परिमाण की दृष्टि में ही माना जा सकता है। मिथुन सम्बन्धी भाव या कर्म से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता। यह परिमाण की बात परिग्रहण परिमाण नामक श्रावक व्रत के अतीचारों का वर्णन करने वाले सूत्र में भी पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। उस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमाणातिक्रम' पद देकर 'संग्रह मर्यादा' को ही इंगित किया है अभिधान राजेन्द्र कोष में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है 'णाणामणिकणगरयण महरिहपरिमल 'सपुत्तदार' परिजन दासीदास······।'

उक्त पद में आए 'सपुत्तदार' शब्द का विश्लेषण करते हुए कोषकार लिखते हैं 'सपुत्रदारा सुतयुक्तकलत्राणि।' इसमें भी "परिमाण" को ही बल मिलता है। जैसे किसी ने एक दासी या दास का परिमाण रक्खा तो वह उसके परिमाण में रहने के लिए 'सुतयुक्त दासी' को नहीं रख सकता। क्योंकि यदि वह रखेगा तो उसकी एक संख्यात्मपरिमाण में दोष आ जायगा। यतः दासी के साथ रहने के कारण उसका पुत्र भी दास कार्य में सहायक सिद्ध होगा और व्रती के व्रत-भंग का कारण होगा।

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि जिस भाव में ब्रह्मचर्य है वह भाव अपरिग्रह से अछूता है अतः एक में दूसरे का समावेश नहीं हो सकता। हाँ, यदि खींचतान

करके समावेश माना हो जाय तो चोरी आदि पाप भी परिग्रह में गर्भित किए जा सकते हैं अथवा एक अहिंसा महाव्रत में भी सभी इन सम्मिलित हो सकते हैं। पर, ऐसा किया नहीं गया। सभी महाव्रत आदिनाथ युग से महावीर युग तक चलते रहे हैं। अतः चातुर्याम धर्म पार्श्व का है ऐसा कथन निर्मूल बैठता है।

चउप्पण्ण महापुरिस चरिउ में पाचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ के पूर्वभव का वर्णन करते हुए लिखा है पुरिस सिंह राजा ने विनयनंदन आचार्य से धर्मश्रवण किया—

'सीलमइओ उणधम्मो पंचमहव्वय परिग्गालग···' -पृ० ७८

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व २ सर्ग ३ पृष्ठ ६४ का एक उद्धरण है—

'महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविन ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मता ॥८६॥
सर्वाभिलाषिण· सर्वभोजिन सपरिग्रहः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥८७॥

इसमें गुरु (मुनि) के लक्षण का निर्देश है और यह निर्देश तीर्थंकर अजितनाथ के समय का है। इसमें विपुला नामा गणिनी शुद्धभट्ट की पत्नी सुलक्षणा को गुरु की पहिचान बतलाते हुए कहती है कि गुरु को सामायिक चारित्री, महाव्रती, भिक्षोपजीवी और धर्मोपदेशक होना चाहिए। जो इसके विपरीत सर्वाभिलाषी, सर्वभोजी, सपरिग्रही, अब्रह्मचारी व मिथ्योपदेशदाता है वे गुरु नहीं है।

इससे ध्वनित होता है कि यदि बीच के २२ तीर्थंकरों के समय में 'चातुर्याम' ही होते तो उक्त श्लोक में परिग्रह और अब्रह्म दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश न होता अपितु मात्र 'सपरिग्रहा' का ही समावेश होता।

'अभिधान राजेन्द्र' में एक उद्धरण है 'न जहा - सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण, एव मुसावायाओ, अदिन्नादाणाओ, सव्वाओ, बहिद्धादाणाओ वेरमणं···।" —अभि० रा० भाग ३ पृ० ११६८ ठाणा० ४ सूत्र १३६)

टीका—'(बहिद्धादाणाओत्ति) बहिद्धा मैथुनं, परिग्रह विशेष. आदान च परिग्रहः—तयोद्वन्द्वैकत्वम्···इह च मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यत इति।'

—वही···टीकाश ; स्थानांग पृ० २०२, भगवती सूत्र शतक १ उद्दे० ६ पृ० २०६

उक्त उद्धरण में चातुर्याम में से अन्तिम याम को 'बहिद्धादाणविरमण'

नाम से कहा गया है और टीका में बहिद्धा का अर्थ मैथुन और आदान का अर्थ परिग्रह किया गया है। दोनों में द्वन्द्व समास करके उन्हें एक बना दिया गया है।

विचारणीय यह है कि द्वन्द्वसमास में जब 'समस्त' दोनों पद उपस्थित हों तब कोई पद अपने मुख्यार्थ की सत्ता को अपने से पृथक् छोड़ देता है क्या? जबकि एक शेष-द्वन्द्व समास में (जहां एक पद का अस्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता है) भी लुप्त पद का अर्थ पृथक् रूपमें स्पष्ट रहता है। यथा—माता च पिता च पितरौ। इसमें मातृपद सर्वथा लुप्त है पर उसका अर्थ पृथक् रूप से कदापि लुप्त नहीं माना गया--वह पृथक् ध्वनित होता है। फिर 'बहिद्धादाण' में तो समास होने पर दोनों ही पद मौजूद हैं एतावता दोनों का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि--यदि 'आदान' का अर्थ परिग्रह है तो उसकी पूर्ति तो 'अदिन्नादाणाओ' में गृहीत 'आदान' शब्द से हो जाती है ऐसे में 'बहिद्धा विरमण' ही पर्याप्त था या अदिन्नादाणाओ के स्थान में 'अदिन्नविरमण' ही पर्याप्त था। उक्त स्थिति में तो यही फलित होता है कि व्याकरण के नियमानुसार आदान शब्द के दोनों प्रयोगों में, एक प्रयोग व्यर्थ है और व्यर्थ रह कर वह ज्ञापन करा रहा है कि (व्याकरण में शब्द व्यर्थ में प्रयुक्त नहीं होते) पांचों यामों का ही अस्तित्व रहा है -ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनों ही स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए हैं।

इसी टीका में एक स्पष्टीकरण यह भी दिया गया है कि अपरिगृहीता योषित् भोगी नहीं जाती- मैथुन परिगृहीता में ही शक्य है इसलिए बहिद्धा के साथ आदान- (परिगृहीत) का समावेश है। लेकिन यह विषय भी आगम बाह्य है यत उमास्वाति स्वामी ने जहां ब्रह्मचर्य के दोषों को गिनाया है वहां स्पष्ट लिखा है -'परिगृहीतापरिगृहीतागमन' अर्थात् दोनों (परिगृहीता और अपरिगृहीता) के ही सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट घोषणा है कि दोनों ही दोष के भागी होंगे--यदि अपरिगृहीता में दोष की संभावना ही न होती तो वे उसका ग्रहण न करते।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपरिगृहीता में मैथुन शक्य नहीं' यह भ्रम ही 'ब्रह्मचर्य-याम' को गौण या लुप्त करने में कारण रहा है। यत—चूंकि मुनि सर्वथा स्त्री रहित होता है, उसके परिगृहीता मानी ही नहीं गई तो वह स्वभाव से (परिगृहीता रहित होने से) ब्रह्मचारी ही सिद्ध हुआ—अत: उसके लिए इस याम की आवश्यकता प्रसिद्ध नहीं की जाती रही और

चार-याम प्रसिद्ध कर दिए गए। और श्रावक के लिए (उनके गृहस्थ -- परिगृहीता सहित होने के कारण) इस नियम का विधान जारी रक्खा गया ताकि वह इसमें सावधान रहता हुआ संयम का (यथाशक्ति) पालन कर सके। इसीलिए दो प्रकार के भेद माने गए-- याम चार और अणुव्रत पांच। अन्यथा दोनों ही ४-४ या ५-५ होने चाहिए थे।

एक प्रश्न यह भी महत्व का है कि —

'पुरिमा उज्जुजड्डाओ, वक्कजड्डाउ पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपण्णाउ तेण धम्मे दुहा कए॥'

आदि की स्थिति यामों पर ही क्यों मानी जाय? क्यों न अणुव्रतों को भी चार ही माना जाय। क्या उक्त स्थिति का प्रभाव मुनियों पर ही पड़ा? या उन दिनों सभी श्रावक ऋजु-जड थे और सभी मुनि ऋजु-प्रज्ञ? ऐसा तो सर्वथा असम्भव है कि ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम सब मुनियों का एक-सा हो और सब श्रावकों का एक-सा? इसमें तो कर्म के उदय, उपशम और क्षयोपशम आदि का सिद्धान्त ही खटाई में पड़ जायगा। फिर एक तथ्य यह भी है—

एक धारा में यामों की संख्या तीन भी मिलती है। यथा—

'जामा, तिण्णि उदाहिया, जेसु इमे आरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया।'

- आचारांग ८।१।६

भाषा— 'भगवन्त ने महाव्रत के मुख्य तीन भेद कहे है—अहिंसा सत्य और निर्ममत्व। क्योंकि ये तीनों ममत्व-भाव में होते हैं। इसमें आर्यपुरुष समझ के सावधान होते है'। 'टिप्पण—चोरी, मैथुन व परिग्रह ये तीनों निर्ममत्व में आजाते है'। —वही, अमोलक ऋषिजी

बहुत से व्याख्याता जो याम का अर्थ अवस्था करते है उन्हें उक्त प्रसंग पर श्री शीलांकाचार्य की टीका देखनी चाहिए। तथाहि—

'यामा' व्रत विशेषाः त्रय उदाहृता, तद्यथा—
प्राणातिपातो मृषावाद परिग्रहश्चेति ; अदत्तादान—
मैथुनयो:परिग्रह एवान्तर्भावात् त्रय ग्रहणम्।'—

इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि ये तीन याम किन तीर्थंकरों के बतलाए और किनके समय में प्रचलित थे। इस ऊपर के प्रसंग से स्पष्ट है कि याम सदा पांच ही रहे—पर लोगों के कथन में (न्यूनाधिक की अपेक्षा से) संख्या भेद रहा। सामान्यतः याम एक भी हो सकता है और विशेषतः २ से ५ तक हो सकते हैं।

आवश्यक सूत्र में कथन आता है कि बाईस तीर्थंकर संयम का उपदेश देते हैं—

'बावीस तित्थयरा सामाइय संजम उवइसंति।'—यही कथन आचार्य हरिभद्रनियुंक्ति मे (गाथा १२४६) मिलता है। दीक्षा के प्रसंग में सभी जीव इस सामायिक चारित्र को धारण करते रहे हैं और सामायिक सावद्य योग के परित्याग से होता है—'सामाइय नाम, सावज्जजोगपरिवज्जणं।'—इस प्रकार सभी जीव पाँचों पापों का त्याग करते हैं या अब्रह्ममिश्रितपरिग्रह रूप चार पापों का ? यह भी एक प्रश्न खड़ा रहता है।

अभिधान राजेन्द्र कोष मे एक उद्धरण है कि—

'सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यानरहितस्य च।
समभावो मुहूर्तं तत् व्रत सामायिकाह्वयम्॥
—पृ० ७०३ (भाग सातवां)

इसी मे दुर्ध्यान का स्पष्टीकरण करते हुए कोषकार ने लिखा है कि—'दुर्ध्यान— आर्तरौद्ररूप तेन रहितस्य प्राणिनः।' इसमें प्रश्न होता है कि रौद्रध्यान तो ५ है—हिंसानंदी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, अब्रह्मानंदी और परिग्रहानंदी। क्या साधु (दीक्षा के समय) चार दुर्ध्यानों को छोड़ता है या उसकी दृष्टि मे पांचो ही दुर्ध्यान होते है ? 'चातुर्याम' के हिसाब में तो दुर्ध्यान भी चार ही होंगे—जैसा कि कही कथन नही है।

श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे प्रथम अध्याय के सातवे सूत्र की व्याख्या मे आया "चतुर्याम भेदात्" पद भी विचारणीय है कि इसका समावेश कब और कैसे हुआ। हो सकता है बाद के विद्वानो ने (चातूर्याम धर्म पार्श्वनाथ का है ऐसी धारणा मे) मूल पद संशोधन की चेष्टा की हो अन्यथा, प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिलिपियों मे तो ऐसा सिद्ध नही होता। ब्यावर, श्रवणबेलगोला और मूडबिद्री की ताडपत्रीय प्रतियों मे 'चतुर्यमभेदात्' के स्थान मे 'चतुर्यति भेदात्' पाठ है।

अब आती है केशी-गौतम संवाद की बात। सो, यह विचारणीय है कि वे केशी पार्श्व परंपरा के वे ही केशी है जिन्होंने प्रदेशी राजा को संबोध दिया था या अन्य कोई केशी हैं ? वे केशी चार ज्ञान के धारक थे और पार्श्व की शिष्य परम्परा के पट्धर आचार्य थे। उन्होंने गौतम से प्रश्न किया हो यह बात जँची नही। यतः संवाद के (कथित) समय तक गौतम और केशी दोनों समान ज्ञान धारक ही सिद्ध हो सकते हैं।

केशी के ज्ञान के सम्बन्ध मे रायपसेणी मे लिखा है—'इच्चेए णं पदेशी अहं तव "चउव्विहेण णाणेण" इमेयारूवं अज्झत्थियं जाव समुप्पन्नं जाणामि।" भगवती सूत्र से भी उक्त कथन की पुष्टि होती हैं।

इस सम्बन्ध में पाठकों के विचारार्थ अधिक कुछ न लिखकर यहाँ एक उद्धरण मात्र दिया जाना ही उपयुक्त है—

'भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए जो बड़े ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति श्रुत एवं अवधि-ज्ञान के धारक थे।······पार्श्व संवत् १६६ से २५० तक आपका कार्यकाल बताया गया है। आपने ही अपने उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया।······आचार्य कुशिकुमार पार्श्व-निर्वाण संवत् १९६ से २५० तक अर्थात् ८४ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और अन्त में···मुक्त हुए।' इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षों में मुक्त हुए।···इस सम्बन्ध में वास्त-विक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशी और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाले केशीकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में दो केशि श्रमण हुए हैं।'

'आचार्य केशी जो कि भगवान पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गए हैं उनका काल 'उपकेशगच्छ पट्टावली' के अनुसार पार्श्वनिर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है। इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूसरे केशीकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है। इस प्रकार प्रथम केशी श्रमण का काल महावीर के छद्मस्थकाल तक का···ठहरता है।'

'इसके अतिरिक्त रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी प्रतिबोधक केशिश्रमण को "चार ज्ञान का धारक" बताया गया है। केशि ने स्वयं कहा है—'मैं मति श्रुत अवधि, और मनःपर्ययज्ञान से सम्पन्न हूँ···।'—राज प्र० १६०-१६५; जैन साहि० इति० भा० २ पृ० ५३-५८। तथा जिन केशि श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उनको उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है [केशीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ओहिनाणसुए उत्तरा, अ० २३]।

ऐसी दशा में प्रदेशी प्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशी श्रमण जो महा-वीर के छद्मस्थ काल में ही हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बाद तीन ज्ञान के धारक रूप में गौतम के साथ मिलना किसी तरह युक्ति-संगत और संभव प्रतीत नहीं होता।'

—जैनधर्म का मौलिक इतिहास आ० हस्तीमल जी महाराज। पृ० ३२८-३१।

अजातशत्रु ने बुद्ध को बतलाया कि वह स्वयं निगंठनाथपुत्त (महावीर) से मिले और महावीर ने उनसे कहा कि—निर्ग्रंथ 'चातुर्याम संवर संवृत' होता है। अर्थात् वह (१) जल के व्यवहार का वारण करता है, (२) सभी पापों का वारण करता है, (३) सभी पापों का वारण करने से धुतपाप होता है, (४) सभी पापों का वारण करने में लगा रहता है। अतः वस्तुस्थिति यह भी हो सकती है कि चातुर्यामसंवर के स्थान में लोगों ने 'संवर' शब्द छोड़ दिया हो और कालान्तर में 'चातुर्याम' से अहिंसा आदि को जोड़ दिया हो। अन्यथा 'चातुर्यामसंवर' के स्थान पर 'चतु संवर' ही पर्याप्त था। 'याम' का कोई प्रयोजन ही नहीं दिखाई देता। अतः फलित होता है कि ऊपर कहे गए 'चातुर्याम-संवर' के अतिरिक्त अन्य कोई चातुर्याम नहीं थे।

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रसंगों में चार की संख्या उपलब्ध होती है। कई में तो [कथित-प्रसिद्ध किए गए] चार यामों से पूरी-पूरी समता भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे 'चार कर्मक्लेश' 'चार पाराजिक' और चार आराम पसन्दी इत्यादि।

(१) चार कर्मक्लेश- इनका वर्णन 'दीर्घनिकाय' के सिगालोवाद सुत्त ३।८ में किया गया है। वहाँ चारों के नाम इस प्रकार गिनाए गए है—१. प्राणि-मारना, २ अदत्तादान, ३ झूठ बोलना, ४. काम।

(२) चार पाराजिक इनका वर्णन 'विनयपिटक' में इस प्रकार है—१. हत्या, २. चोरी, ३ दिव्यशक्ति (अविद्यमान) का दावा, ४. मैथुन।

(३) चार आराम पसन्दी —इनका वर्णन 'दीर्घनिकाय' पासादि सुत्त में है—भ० बुद्ध कहते है कि —१. कोई मूर्ख, जीवों का वध करके आनन्दित होता है, २. कोई झूठ बोलकर आनन्दित होता है, ३. कोई चोरी करके आनन्दित होता है, ४. कोई पाच भोगों से सेवित होकर आनन्दित होता है। ये चार आराम पसन्दी निकृष्ट है।

उक्त सभी प्रसंग चातुर्याम से पूर्ण मेल खाते है और यह मानने को बाध्य करते है कि पार्श्वनाथ के पाच महाव्रतों में से बुद्ध ने चार ग्रहण किए हो —या उनमें संकोच कर उन्हें चातुर्यामसंवर का रूप दिया हो या जैन ग्रन्थों में जहा चार की संख्या आई हो—वह लोक-प्रचार से प्रभावित हो—ऐसा भी हो सकता है। पाठक विचारें!

□□

पर्युषण और दशलक्षणधर्म

जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्यूषण पर्व की विशेष महत्ता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोत्साह मनाते हैं। व्यवहार में दिगम्बर श्रावकों में यह दस दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगों से धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टान्हिका (अठाई) कहते है।

पर्युषण के अर्थ का खुलासा करते हुए राजेन्द्र कोष में कहा है

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना" अथवा "परि. सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्येन सप्तदिनानि उत्कृष्टेन षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा परिसामस्त्येन उषणा।"- अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमे क्रोधादि भावों का सर्वत उपशमन किया जाता है अथवा जिसमे जघन्य रूप से ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र मे किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पर्यूषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा पज्जुसणा, वासावासो य (नि० चू० १०) ये सवशब्द एकार्थवाची है।

पर्युषण (पर्युपशमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते है (१) जिसमे क्रोधादि भावों का सर्वत उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमें जघन्य रूप से ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से चार मास पर्यन्त एक स्थान मे वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण में जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का सबध अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है, कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्यूषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ मे साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नही। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नही है। अनिवार्यता का अभाव होने के कारण ही श्रावकों में दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते हैं और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परायें ऐसा मानती हैं कि उत्कृष्ट पर्यूषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनों ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओं को करते हैं। यत-उन दिनों (वर्षा ऋतु) में जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिंसादि दोष की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिंसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।—उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कप्प का वर्णन दोनों सम्प्रदायों में है। दिगम्बरों के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है :—

"पज्जोसमणकप्पो नाम दशम। वर्षाकालस्य चतुर्षुमासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्याग। विंशत्यधिक दिवसशत एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्ग कारणापेक्षया तु हीनाधिक वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवां कल्प है। वर्षाकाल के चार मासों में एकत्र ठहरना—अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते हैं। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरों में 'पर्यूषणाकल्प' के प्रसंग में जीतकल्प सूत्र में लिखा है—

'चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरि राइंदिया जहण्णेण।
ठितमट्ठितगेमतरे, कारणे वच्चासितऽण्णयरे॥—

—जीत क० २०६५ पृ० १७६

विवरण —'उत्कर्षेण पर्युषणाकल्पश्चतुर्मास यावद्भवति, अषाढ पूर्णिमाया कार्तिकपूर्णिमा यावदित्यर्थ। जघन्यत पुन सप्ततिरात्रिदिनानि, भाद्रपदशुक्लपंचम्या कार्तिकपूर्णिमा यावदित्यर्थ - अशिवादौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासित विपर्यस्तमपि कुर्यु।'

—अभि० रा० भाग० ५ पृ० २५४

पर्यूषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास (१२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।--कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा में ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि '(१) दिगम्बर श्रावक इस पर्व को धर्मपरक १० भेदों (उत्तम-क्षमा-मार्दव-

आर्जव-शौच-सत्य संयम-तपस्त्याग, आकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्म) की अपेक्षा मनाते हैं और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते है। जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते है। वहा इन दिनो मे कही कल्पसूत्र की वाचना होती है और कही अन्तकृत सूत्रकृताग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आन्हिक (अष्टान्हिक-अठाई) कहते हैं। साधुओं का पर्यूषण तो चार माम ही है।

दिगम्बरो मे उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी मे प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरो मे पचमी को पूर्ण होता है। दोनो सम्प्रदायो मे दिनो का इतना अन्तर क्यो? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगो ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए है कि पर्यूषण मनाने की तिथियाँ दोनो मे एक ही हो। पर, वे असफल रहे है।

पर्युषण के प्रसग मे और सामान्यत भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप मे निश्चित तिथियो पर विचार करते है तब हमे विशेष निर्देश मिलता है कि—

"एव पर्वसु सर्वेषु चतुर्मास्या च हायने।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणा कृति॥

- धर्म स० ६६ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वो मे और जीवन मे भी यथाशक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषत गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या मे पर्वो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि—

"तत्र पर्वाणि चैवमुचु —
"अट्ठम्मि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्व
मासमि पव्व छक्क, तिन्नि अ पव्वाई पक्खमि॥'

"चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथेतु ज्ञान पंचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। 'अट्ठमी चउद्दसीसं नाण पचमीसु उववास न करेइ पच्छित्तमित्यादिवचनात्।—एषु पर्वसु कृत्यानि यथा—पौषधकरण प्रति पर्व तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन। यदागम,—
'सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ॥'

—धर्म स० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गए हैं—अष्टमी चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या, ये मास के ६ पर्व हैं और पक्ष के ३ पर्व हैं। इसमे 'चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-

पुण्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ मे ज्ञान पचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित का विधान है।...इन पर्वो के कृत्यो मे प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व मे उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम मे भी कहा है—'जिनमत मे सर्व निश्चित पर्वो मे योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमत करना बतलाया है।

उक्त प्रसग के अनुसार जब हम दिगम्बरो मे देखते है तब ज्ञात होता है कि उनके पर्व पचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते है, और उनमे आगमविहित उक्त सर्व (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा) पर्व आ जाते है।, जब कि श्वेताम्बरो मे प्रचलित पर्व दिनो मे अष्टमी का दिन छूट जाता है- उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए कि पर्युषण काल मे अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियो का समावेश रहे। यह समावेश और जैनियों के विभिन्न पन्थों की पूर्व तिथियो मे एकरूपता भी, तभी सम्भव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से ही प्रारम्भ माने जायें।

कल्पसूत्र के पर्युषण समाचारी मे लिखा है—'समणे भगव महावीरे वीसाए सवीसइराए मासे वइक्कते वासावास पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ मे 'पर्यूषणामाकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्युषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण मे श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखे पृष्ठ २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्या ? एवमुच्यते. वर्षाणा विंशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्युषणमकार्षीत्।' दूसरी ओर पर्यूशणाकल्प चूर्णि मे 'अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणे भणिओ भद्दवजुण्हपचमीए पज्जोसवणा'—(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है।

—अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणो मे स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्युषणा करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पचमी था। इस प्रकार पचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पचमीए' पद की विभक्ति मे सन्देह की गुंजाइश रह जाती है कि पर्युषणा पचमी मे होती थी अथवा पचमी मे होती थी। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पचमीए' रूप तीसरी पचमी और सातवी तीनो ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पचमी में ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को ७-८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नही रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हा, पचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो मे आठ या दस दिनो की गणना को पूरा किया जा सकता है और अष्टमी को प्रोषध भी किया जा सकता है। सम्भवत इसीलिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पचम्यां अनतर' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ला पचम्या कार्तिक पूर्णिमा यावदित्यर्थ' पृ० २५४ मे लिख दिया है। यहा पचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पचमीए' का अर्थ 'पचमी मे' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति मे अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व मे अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति मे शक्य है। अनन्तर' मे तो सन्देह को स्थान ही नही रह जाता कि पचमी मे पर्यषण शुरू होता है और पर्यषण के जघन्य काल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भाँति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ मे अन्त के आठ दिनो मे (अष्टमी से पूर्णमा) अष्टाह्निका पर्व माने है ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप मे इन दिनो अकृत्रिम जिन मन्दिरो मे बिम्बो के दर्शन-पूजन को जाते है। देवो के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरो मे भी है। श्वेताम्बरो की अष्टाह्निका की पर्व तिथिया चैत्र सुदी ८ से १५ तक तथा आसोज सुदी ८ से १५ तक है। तीसरी तिथि जो (सम्भवत) भाद्र वदी १३ से सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ से प्रारम्भ क्यो नही? यह विचारणीय ही है- जब कि दो बार की तिथिया अष्टमी से शुरू है।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दि शुरू करने की बात है' तब इस अष्टाह्निका को पचमी के पूर्व से शुरू न कर पचमी से ही शुरू करना युक्ति सगत है। ऐसा करने से 'सवीसराए मासे वइक्कते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइदिया

१. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगने से लेकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् असाढ शुक्ला १४ से लेककर भाद्रपद शुक्ला ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।'

—जैन-आचार (मेहता) पृ० १८७।

चहुण्णेयं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पंचमी, अष्टमी चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका में समाविष्ट रह जाती हैं जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य हैं।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनों में पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य कोई प्रक्रिया अपनाते हों उन्हें भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

> 'चाउम्मास अवरिसे, पक्खि अ पंचमीट्ठमीसु नायव्वा।
> ताओ तिहीओ जासिं, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१॥
> पूआ पच्चक्खाणं पडिकमणं तइय निअम गहणं च।
> जीए उदेइ सूरो तीइ तिहीए उ कायव्वं ॥२॥'
>
> धर्म सं० पृ० २३६

वर्ष के चतुर्मास में चतुर्दशी पंचमी और अष्टमी को उन्ही दिनों में जानना चाहिए जिनमे सूर्योदय हो, अन्यप्रकार नहीं। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि में करना चाहिए जिसमें सूर्योदय हो।

□□

अपदेससुत्तमज्झं

श्री 'समयसार' की १५वी गाथा के तृतीय चरण के दो रूप मिलते हैं—(१) 'अपदेशमुत्तमज्झं' और (२) 'अपदेससंतमज्झं'। और इस पर संस्कृत टीकायें भी दो आचार्यों की मिलती है—श्री जयसेनाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्य की।

आचार्य जयसेन की टीका के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समक्ष 'अपदेससुत्तमज्झं' पद रहा और उन्होंने इसी पद को आश्रय कर टीका लिखी। टीका में पूरे पद को जिन शासन का विशेषण माना गया है और 'सुत्त' शब्द को दृष्टि में रख कर तदनुसार ही 'अपदेस' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बिठाया गया है। उक्त अर्थ 'सुत्त' शब्द के सन्दर्भ में पूरा-पूरा सही और विधि-पूर्ण बैठ रहा है। कदाचित् यदि 'संत' शब्द किन्हीं प्रतियों में न होता तो पूरे पद के अर्थ में सम्भवतः अवश्य ही विवाद न उठता। आचार्य जयसेन अपनी टीका में लिखते हैं—

'अपदेससुत्तमज्झं' अपदेशसूत्रमध्यं अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतम् इति यावत् सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञान समयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भाण्यत इति।'—

जिससे पदार्थ बताया।दर्शाया जाता है वह 'अपदेस' होता है अर्थात् शब्द। यानी द्रव्यश्रुत। 'सुत्तं' का भाव है ज्ञान-समय अर्थात् भावश्रुत। ये भाव उक्त टीका से स्पष्ट फलित होता है। इन आचार्य ने 'संत' शब्द का अपनी टीका में कहीं कोई भी उल्लेख नहीं किया।

जहां तक श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका का सम्बन्ध है, उन्होंने १५वीं गाथा को पूर्व प्रसंग में आई १४वीं गाथा के प्रकाश में देखा है। उनके समक्ष 'सुत्त', शब्द रहा प्रतीत नहीं होता अन्यथा कोई कारण नहीं कि वे टीका में उसे न छूते। उनकी दोनों गाथाओं की (दोनों की टीकाओं में) समता तो है ही साथ ही आत्मा और जिनशासन में अभेदमूलक भाव (गाथाओं के अनुरूप) भी है पर उन्होंने गाथा के तृतीय चरण को श्री जयसेनाचार्य की भांति, जिनवाणी का विशेषण नहीं बनाया और तृतीय चरण की टीका आत्मा का विशेषण बना कर ही लिखी। ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके समक्ष 'सुत्त' के स्थान

पर कोई ऐसा अन्य शब्द रहा होगा जो १४वी गाथा में गृहीत आत्मा के सभी (पांचो) विशेषणों की संख्या पूर्ति करता हो। वह शब्द क्या हो सकता है ? क्या 'संत' 'सत्त' या 'सत्त' जैसा कोई अन्य शब्द भी हो सकता है ? यह विचारणीय है।

हमारे समक्ष १४वी व १५वी दोनों गाथायें और दोनों पर श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीकायें उपस्थित हैं—

गाथा १४—'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयंणियदं।
अविसेसमसंजुत्तं··················॥१४॥ समयसार

टीका—'या खलु अबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः············
सात्वनुभूतिरात्मैव।'—

गाथा १५—'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं···············॥१५॥ समयसार।

टीका—येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः············जिनशासनस्यानुभूति।'—

उक्त दोनों गाथायें और उनकी टीकायें आत्मानुभूति व जिनशासन अनुभूति (दोनों) में अभेदपन दर्शाती है अर्थात् जो आत्मानुभूति है वही जिनशासन अनुभूति है और जो जिनशासन की अनुभूति है वही आत्मानुभूति है।

प्रथम गाथा नम्बर १४ में आत्मा के पांच विशेषण है—(१) अबद्धस्पृष्ट (२) अनन्य (३) नियत (४) अविशेष और (५) असंयुक्त। दोनों गाथाओं की टीका के अनुसार ये पाचो ही विशेषण गाथा (मूल) १५ में भी बैठने चाहिए। स्थूल दृष्टि से देखने पर गाथा १५ मे अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष ये तीन विशेषण स्पष्ट समझ में आ जाते है तथा 'नियत' और 'असंयुक्त' दो विशेषण दृष्टि से ओझल रहते है—जबकि टीका में पांचो विशेषणों का उल्लेख है। पाठकों को ये ऐसी पहेली बन गए है जैसी पत्रिकाओं में प्रायः चित्रों के माध्यम से पहेलियां प्रकाशित होती रहती है। जैसे—यहां इस चित्र में दो पुरुष, एक कुत्ता, एक चिड़िया छिपे है—उन्हें ढूंढो। उनके ढूंढने में जैसे दृष्टि और बुद्धि का व्यायाम होता है और वे तब कही मिल पाते हैं। इसी प्रकार गाथा के तृतीय चरण में ऐसा और ऐसे से भी अधिक व्यायाम किया जाय तब कही विशेषणो का भाव बुद्धि में फलित हो। पाठक विचारें कि कही ऐसा तो नही है ?

आचार्य कुन्दकुन्द मूल और आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं के अनुसार 'नियत' और 'असंयुक्त' विशेषण इस भांति ठीक बैठ जाते हैं---

(१) 'नियत' अर्थात् सभी भांति निश्चित, एकरूप, अचल, जो अपने स्थान—स्वरूप आदि से चल न हो, अन्य स्थान में जिसका सम्बन्ध ही न हो—अपने में ही हो—अर्थात् 'अपगता' (दूरीभूता) अन्ये देशा यस्मात् स अपदेश: तं अपदेश—नियतं आत्मानम्। अथवा देशेभ्य (अन्य स्थानेभ्य) अपगत: अपदेश' तं नियतं आत्मानम्।' यह अर्थ टीका में आए नियत विशेषण को विधिवत् बिठा देता है और टीका की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है तथा यह मानने का अवसर भी नहीं आता कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इसकी टीका छोड़ दी है।

(२) दूसरा विशेषण है 'असंयुक्त'। असंयुक्त का भाव होता है सयोग रहित—एकाकी—सत्स्वरूप या स्वत्व में विद्यमान। जो स्व में होगा उसमें संयोग कैसा? अर्थात् संयोग नहीं ही होगा। जो संयोग में नहीं होगा उसमें पर कैसा? ये 'असंयुक्त' अर्थ 'सत्तमज्झ' (सत्त्वमध्य) में घटित हो जाता है। क्योंकि—सत्त (सत्त्व) का अर्थ 'चेतन' भी है और आत्मा चेतन ही है 'चेतन को चेतन के मध्य अर्थात् आत्मा को आत्मा के मध्य, जो देखता है वह जिनशासन को देखता है। 'पाइयसद्द महण्णव' कोष में लिखा है सत्त [सत्त्व] प्राणी, जीव-चेतन। पृ० १०७६। संस्कृत में सत्त्व का अर्थ जीव है ही। यदि 'सत्त' के स्थान पर 'सत्त' माना जाय तब भी 'अपदेससत्तमज्झ'' इस स्थिति में 'अपदेस+अत्त+मज्झ' खण्ड करके 'अत्त' शब्द से आत्मा अर्थ कर सकते है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं भी 'अत्त' शब्द आत्मा के लिए प्रयोग किया है। तथाहि- -

'कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स।'९४।

' ,, ,, ,, ,, ।'९५।

'जाण अत्ता दु अत्ताण' ॥८३॥ --समयसार

इस प्रकार सम्भावना है कि 'सत शब्द का मूल रूप 'सत्त' या 'सत्त' ही रहा हो और जो यदा-कदा सकार के ऊपर बिन्दु ने बैठा हो या सकार का सकार हो गया हो—जैसा कि प्राय. लिपिकारों से हो जाता है। यह बात तो बिल्कुल ठीक है कि—'आचार्य अमृतचन्द्र जी की टीका देखते हुए 'अपदेस···' पद का वही रूप होना चाहिए जो नियत और असंयुक्त विशेषणों की पुष्टि करता हो। 'सुत्त' शब्द भी विचारणीय है। कदाचित् इसका संस्कृत रूप 'स्वत्व' होता हो। क्योंकि 'स्वत्व' का अर्थ स्व-सत-स्वरूप—आत्मा में होना है। मेरी दृष्टि में अभी 'स्वत्व' की प्राकृत 'सुत्त' देखने में नहीं आई। विद्वज्जन विचारें।

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द की यह परिपाटी भी रही है कि वे एक ही गाथा को यदा-कदा अल्प परिवर्तनो के साथ दुहरा देते रहे है—गाथा मे कुछ ही शब्द परिवर्तन करते रहे हैं। यहा भी यही बात हुई है—उदाहरणार्थ जैसे—

'रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बधदि पुणो वि ॥२८१॥'
'रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बधदे चेदा ॥२८२॥'
'पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥'
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥'
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहतु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९९॥'
—समयसार—(कुन्दकुन्दाचार्य

उक्त सदर्भ मे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आचार्य ने आत्मानुभूति और जिनशासनानुभूति मे अभेद दर्शाने के लिए १४वी गाथा को थोडे फेरबदल के साथ १५वी गाथा मे भी आत्मा के वे सभी विशेषण दुहराए है जो कि गाथा १४वी मे है।

इसे 'सन्त' शब्द मानकर, उसका शान्त अर्थ करना उचित नही जँचता, यत जिस आत्मस्वरूप की यहा चर्चा है वह शान्त और अशान्त दोनो ही अवस्थाओ से रहित—परमपारिणामिक भाव रूप है।

इस प्रकार अपदेश शब्द का अप्रदेशी अर्थ भी आगम विरुद्ध है यत: आत्मा निश्चय से असख्यातप्रदेशी, व्यवहार से शरीरप्रमाणरूप असख्यातप्रदेशी है। 'शरीरप्रमाणरूप असख्यात:।'

उक्त सभी विचारो मे मेरा आग्रह नही। पाठक विचारे और जो युक्तियुक्त हो उसे ही ग्रहण करे।

'मज्झं' का अर्थ मध्य होना हो ऐसा ही नही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस शब्द का प्रयोग 'मेरा' अर्थ मे भी किया है। प्रसग मे 'मेरा' अर्थ से भी पूर्ण सगति बैठ जाती है। 'मेरा' अर्थ मे आचार्य के प्रयोग—

'होहिदि पुणो वि मज्झ'—२१
'जं भणसि मज्झमिण'—२४
'मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं'—२५   समयसार

आचार्य कुन्द-कुन्द की प्राकृत

प्राय: सभी मानते है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन शौरसेनी प्राकृत को माध्यम बनाकर ग्रन्थ निर्माण किए। कुछ समय से उनके ग्रन्थों मे भाषा की दृष्टि से संशोधन कार्य प्रारम्भ हो गया है और कहा जा रहा है कि इसमे लिपिकारों की संदिग्धता या असावधानी रही है। ये कारण कदाचित हो सकते है और इनके फलस्वरूप अनेक हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों मे एक-एक शब्द के विभिन्न रूप भी हो सकते है। ऐसी स्थिति मे जबकि आचार्य कुन्द-कुन्द की स्वयं की लिखित किसी ग्रन्थ की कोई मूल प्रति उपलब्ध न हो, यह कहना बड़ा कठिन है कि अमुक शब्द का अमुक रूप ही आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपनी रचना में लिखा था। तथा इसकी वास्तविकता मे किसी प्राचीन प्रति को भी प्रमाण नही माना जा सकता, यत:—'पुराणमित्येव न साधुसर्वम् ।'

जहाँ तक जैनशौरसेनी प्राकृत भाषा के नियम का प्रश्न है और कुन्दकुन्द की रचनाओं का प्रश्न है—उनकी प्राकृत मे उन सभी प्राकृतों के रूप मिलते है जो जैन शौरसेनी की परिधि मे आते है। उन्होंने सर्वथा न तो महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी अथवा अर्धमागधी को ही अपनाया। अपितु उन्होंने उन तीनों प्राकृतों के मिले-जुले रूपों को अपनाया जो (प्राकृत) जैन शौरसेनी में सहयोगी है। जैनशौरसेनी प्राकृत का रूप निश्चय करने के लिए हम भाषा-विशेषज्ञों के अभिमत जान लें ताकि निर्णय मे सुविधा हो—

'मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता: ॥'

यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने जैन शौरसेनी को प्राकृत के मूल भेदों मे नही गिनाया, तथापि जैन साहित्य मे उसका अस्तित्व प्रचुरता मे पाया जाता है। दिगम्बर साहित्य इस भाषा मे वैसे ही ओत-प्रोत है जैसे श्वेताम्बर-मान्य आगम अर्धमागधी मे। सम्भवत: उत्तर से दक्षिण में आने के कारण दिगम्बराचार्यों ने इस (जैन शौरसेनी) को जन्म दिया हो—प्रचार की दृष्टि से भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, पर यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है—इससे सिद्धान्त के समझने में सभी को आसानी अनुभव हुई होगी और सिद्धान्त सहज ही प्रचार में आता रहा होगा। यत: इस भाषा में सभी प्राकृतों के शब्दों का समावेश रहता है—शब्द के किसी एक रूप को ही शुद्ध नहीं माना जाता

अपितु सुविधानुसार सभी रूप प्रयोगों में लाए जाते है—जैसा कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने भी किया है।

जैनशौरसेनी के सम्बन्ध में निम्न विचार दृष्टव्य हैं और ये अधिकारी विद्वानों के विचार हैं -

'In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakirit works .. He remarks that the language of there works is influenced by Ardhamagdhi, Jain Maharastri which Approaches it and Saurseni'
—Dr. A.N. Upadhye
(Introduction of Pravachansara)

'The Prakrit of the sutras. the Gathas as well as of the commentary. is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and this is exectly the nature of the language called 'Jain Saurseni.'
- Dr. Hiralal
(Introduction of षट्खण्डागम P. IV)

'जैन महाराष्ट्री का नामचुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। यही बात जैन शौरसेनी के बारे में और जोर देकर कही जा सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोड़ी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा में ऐसे रूप और शब्द है जो शौरसेनी में बिल्कुल नहीं मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।

—पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ३८

प्राचीन आगमों और आचार्य कुन्द-कुन्द की रचनाओं में इसी आधार पर विविध शब्द-रूपों के प्रयोग मिलते है—दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत के नियमों को लेकर नही चले अपितु उन्होंने अन्य प्राकृतों के शब्दरूपों को भी अपनाया। अत. उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से संशोधन की बात सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। आचार्यों के द्वारा अपनाए गए विविध शब्दरूपों को झलक पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत है। हमे आशा है कि पाठक तथ्य तक पहुँचेंगे।

दि० जैन आगमों मे एक ही आचार्य द्वारा प्रयुक्त विविध प्रयोग :—

षट्खंडागम [१,१,१,]

(महाराष्ट्री के नियमानुसार 'द' को हटाया) —

उप्पज्जइ (दि) पृ० ११०, कुणइ पृ० ११०, वण्णेइ पृ० ६८, पसंवेइ पृ० ६६, उच्चइ पृ० १७१ गच्छइ पृ० १७१ कुव्वइ १७१, भणइ पृ० २६६, मण्णइ पृ० ७८

मिच्छाइट्ठि पृ० २०, चारित्तकालो कओ पृ० ७१ इत्यादि।

(शौरसेनी के अनुसार 'द' को रहने दिया) –

सुदणाणस्स पृ० ६५, वण्णेदि पृ० ६६, उच्चदि पृ० ७६, पसंवेदि पृ० १०५, उवक्कमोगदो पृ० ८२, गदं (न०) पृ० १२२ णिग्गदो पृ० १२७,

('द' लोप के स्थान में 'य'[1] सभी प्राकृतों के अनुसार) –

सुयणाणस्साणस्स पृ० ६६, भणिया पृ० ६५, गुयसंसया पृ० ६, सुयसंसदा पृ० ६८, चारित्ताकालोकओ[2] पृ० ७१, णक्खयगया (ना) पृ० १२२, कायव्वा पृ० १२५, णिग्गया १२७, सुयणाणाइच्च (तित्थोयणपण्णत्ति) पृ० ३५ लोप में 'य' और अलोप (दोनों)

कुन्द-कुन्द 'अष्टपाहुड' के विविध प्रयोग –

ग्रन्थ नाम शब्द और गाथा का क्रम-निर्देश

दर्शनपाहुड	होदि	होइ	होई	हवइ	हवदि	हवेइ
	२६	११,२३,३१	१८	२०		—
सूत्रपाहुड	६,२०	११,१८,१३		१६	२२	—
		२०,२८		--	-	३६
चारित्रपाहुड	—	१६,४५	—	३८,३६	—	—
बोधपाहुड	—	१५,३६	११,२६			
भावपाहुड	—	—	४८,६५ ७३			
			१२३,१६०	११६	२०	—
			१६३,१५१			५१,२८,३६
मोक्खपाहुड	३०,८३ १०१,	५२,६०	हवइ ५०	१८,१८,३८ ८७	५१,४८	८३,१००

1. 'जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन शौरसेनी में भी होता है'—षट्खंडागम भूमिका पृ० ८६।
2. 'द' का लोप है 'य' नहीं किया।

लिंगपाहुड	—	२,१३,१४	—	—	—	—
शीलपाहुड	—	६	२१			
नियमसार	१८,२६,४५	२,४,३१	१०,१२७			
	५५,५८,६४	५६,५७	१६३,१७६	—	११३,११४	५,२०
	८२,८३,६४	१६६,१६८	१६६,१६८		१६१,१६२	१५०
	१०७,१४२	१६६,१७१				
		१७४,१७५				

इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द है जो विभिन्न रूपों मे दि० जैन आगमों मे प्रयुक्त किये गए है। जैसे--

'गइ, गदि। होइ, होदि, हवदि। णाओ, णादो। भूयत्थो, भूदत्थो। सुयकेवली, सुदकेवली। णायव्वो, णादव्वो। पुग्गल, पोग्गल। लोए, लोगे। आदि :

उक्त प्रयोगों मे 'द' का लोप और अलोप तथा लोप के स्थान मे 'य' भी दिखाई देता है। स्मरण रहे केवल शौरसेनी को ही 'द' का अलोप मान्य है—दूसरी प्राकृतों मे 'क ग च ज त द य व' इन व्यन्जनों का विकल्प मे लोप होने के कारण दोनों ही रूप चलते है। जैन शौरसेनी मे अवश्य ही महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी के मिले-जुले रूपों का प्रयोग होता है।

पुग्गल और पोंग्गल

प्रवचनसार आदि मे उक्त दोनों रूप मिलते है। जैसे गाथा—२.७६, २.६३ और गाथा २-७८, २-६३।

पिशल व्याकरण मे उल्लेख है - "जैन शौरसेनी मे पुग्गल रूप भी मिलता है"- पैरा १२४। इसी पैरा मे पिशल ने लिखा है "संयुक्त व्यजनों से पहले 'उ' को 'ओ' हो जाता है······। मारकण्डेय के पृष्ठ ६६ के अनुसार शौरसेनी मे यह नियम केवल 'मुक्ता' और 'पुष्कर' मे लागू होता है। इस तथ्य की पुष्टि सब ग्रंथ करते है।"—पैरा १२४,

दूसरी बात यह भी है कि 'ओत्-संयोगे' वाला (उ को ओ करने का) नियम सभी जगह इष्ट होता तो 'चुक्केज्ज' (गाथा ५) पुव्वकालम्हि (गाथा २१) बुज्झदि, बुद्ध (गाथा ४५ समयसार) आदि में भी उकार को ओकार होना चाहिए। पर ऐसा न करके दोनों ही रूपों को स्वीकार किया है—'क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिः।'

लोए या लोगे—

षट्खंडागम मंगलाचरण-मूलमंत्र णमोकार में 'लोए' अक्षुण्ण रूप में लिखा गया है जो आबाल-वृद्ध में बिना किसी भ्रांति के श्रद्धास्पद बना हुआ है। पिशल ने स्वयं लिखा है 'प्राकृत में निम्न उदाहरण मिलते हैं 'एति' के स्थान में 'एइ' बोला जाता है, 'लोके' को 'लोए' कहते हैं'।' पैरा १७६।

पैरा १७६ ही 'जैन शौरसेनी की प्राचीनतम हस्त-लिपियाँ अ, आ से पहले और सभी स्वरों के बाद अर्थात् इनके बीच में 'य' लिखती है' -

'वोत्तु' रूप जैन महाराष्ट्री का है और वत्तु शौरसेनी का। पिशल ने लिखा है 'शौरसेनी' में 'वच' की सामान्य क्रिया का रूप कभी 'वोत्तु' नहीं बोला जाता। किन्तु सदा 'वत्तु' ही रहता है।' पैरा ५७७

उक्त पूरी स्थिति के प्रकाश में ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'जैन शौरसेनी' में अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी इन तीनों प्राकृतों के प्रयोग होते रहे हैं, अतः आगमों में आए (उक्त नियम से सर्वाधित) सभी रूप ठीक हैं। यदि हम किसी एक को ठीक और अन्य को गलत मान कर चलें तब हमें पूरे आगम और कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थों के शब्दों को (भाषादृष्टि से) बदलना पड़ेगा यानी हमारी दृष्टि में सभी गलत होंगे जैसा कि हमें इष्ट नहीं और न जैन शौरसेनी प्राकृत को ही ऐसा इष्ट होगा। इसी सन्दर्भ में यदि सभी जगह शौरसेनी के नियमानुसार 'द' रखना इष्ट होगा तो

'पढमं होइ' या 'पढमं हवइ मंगलं' के स्थान पर भी 'हवदि' पढ़ना होगा जैसा कि चलन जैन के किसी भी सम्प्रदाय में नहीं है आदि। पाठक विचारें।

□□

आत्मा का असंख्यात प्रदेशित्व

एकबार आचार्य कुन्दकुन्द के समय सार की १५वी गाथा मे गृहीत 'अपदेस' शब्द के अर्थ को लेकर चर्चा उठ खडी हुई और इस शब्द को आत्मा का विशेषण मानकर इसका अर्थ अप्रदेश यानी आत्मा अप्रदेशी है ऐसा भी किया जाने लगा। जो सर्वथा- सभी नयो मे भी किसी भांति उचित नही था। आत्मा तो सर्वथा असख्यात प्रदेशी ही है। चाहे इस गाथा मे सबधित अर्थ मे हो या पृथक् अर्थ रूप मे। तथाहि

१ विज्जदि केवलणाण केवलसोक्खं च केवलविरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्त, अत्थित्त सप्पदेसत्त ॥
—समयसार १८१

सप्रदेशत्वादि स्वभावगुणा भवन्ति इति' टीका।

सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलसुख, केवलवीर्य, केवलदर्शन, अमूर्तिक-पना, अस्तित्वभाव तथा सप्रदेशीपना अर्थात् असख्यात प्रदेशीपना है। ये सभी स्वाभाविक गुण होते है जो पृथक् नही हो सकते है।

२ आत्मा की गणना अस्तिकायो मे है और अस्तिकाय मे एक से अधिक प्रदेश माने गए है। काल द्रव्य जो अस्तिकाय नही है उसे भी किसी अपेक्षा, कम से कम एक प्रदेशी तो माना ही गया है। -

असख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्।
आकाशस्यानन्ता।
सख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥' —तत्त्वार्थ सूत्र ५

३ प्रवचनसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्ध जीव को अस्तिकाय और सप्रदेशी कहा है। गाथा १४१ की टीका मे जयसेनाचार्य स्पष्ट करते है— 'अपदेश अप्रदेश कालाणुपरमाण्वादि सपदेस शुद्धजीवास्तिकायादि पचास्ति-कायस्वरूपम्।' -अर्थात् कालाणु परमाणु आदि अप्रदेश हैं, शुद्धजीवास्ति-कायादि सप्रदेश है।

४. आत्मा को अप्रदेशी मानने पर उसका अस्तित्व ही नही रह सकेगा —वह शून्य—खरविषाणवत् ठहरेगा—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अभाव होने से भी सत्ता का सर्वथा अभाव होगा। कहा भी है—

'जम्हा ण संति पदेसा पदेसमेत्तं तु तच्चदो णादं ।
सुण्णं जाण तमत्थं.........। प्रवचनसार २/५२ ॥
'उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ।
सद्द्रव्यलक्षणम् ॥'- तत्त्वार्थसूत्र ३

५. यदि येन-केन प्रकारेण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे एक प्रदेशी (कालवत्) भी माना जायेगा तो आत्मा को सिद्धावस्था में परमाणु अवगाहमात्र आकाश प्रदेश को अवगाह करके ही रहना पड़ेगा और जैसा कि सिद्धान्त है सिद्धान्सारां 'किचूणा चरमदेहदो सिद्धा' धनुषों क्षेत्र परिमाण आकाश को घेरकर विराजमान है का व्याघात होगा ।

६. आत्मा में प्रदेशत्व गुण नहीं बनेगा, जबकि प्रदेशत्वगुण का होना अनिवार्य है 'प्रदेशवत्त्वं तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेश एक आत्मा भवति ।' ---अर्थात् एक आत्मा लोकाकाश जितने (असंख्यात) प्रदेश वाला होता है ।'

त० भा० सि० वृ० २/८

७. प्रदेशत्व शक्ति की सिद्धि नहीं होगी, जबकि आत्मा के इस शक्ति की अनिवार्यता है

'आसंसार संहरण-विस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थित-लोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणानियतप्रदेशत्वशक्ति ।'

समयसार कलश स्याद्वादाधिकार/२६३ टीका

८. प्रवचनसार में 'तिर्यक्प्रचय' और 'ऊर्ध्व-प्रचय नामक दो प्रचय बतलाए हैं और कहा है कि, प्रदेशों के समूह का नाम 'तिर्यक्प्रचय' है । वह 'तिर्यक्प्रचय' काल के अतिरिक्त सभी द्रव्यों और मुक्तात्मद्रव्य में भी है । इससे शुद्धनय में भी शुद्ध आत्मा बहुप्रदेशी ही ठहरता है । 'प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः'—अमृतचन्द्राचार्य ।

'स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं विहाय स्वकीय-स्वकीयप्रदेशसंख्यानुसारेण शेषद्रव्याणां स संभवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्याता ।

द्रव्यों की पहिचान के लिए आगम में पृथक्-पृथक् रूप से द्रव्यों के गुण-धर्मों को गिनाया गया है, सभी द्रव्यों के अपने-अपने गुणधर्म नियत हैं । कुछ साधारण हैं और कुछ विशेष । जहां साधारणगुण वस्तु के अस्तित्वादि को इंगित करते हैं वहां विशेषगुण एक द्रव्य की अन्य द्रव्यों से पृथकता बतलाते हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व ये जीव

द्रव्य के साधारण गुण हैं और ज्ञान' दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये विशेष गुण हैं। कहा भी है—

"लक्षणानि कानि" अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्व, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्" ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्वं अवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनमचेतनत्वं मूर्तममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणाः।

प्रत्येकं जीवपुद्गलयोर्षट्।"— (आलापपद्धति गुणाधिकार)

जीव में निर्धारित गुणों को जीव कभी भी किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता। इतना अवश्य है कि कभी कोई गुण मुख्य कर लिया जाता है और दूसरे गौण कर लिए जाते हैं। यह अनेकान्त दृष्टि की अपनी विशेष शैली है द्रव्य में गौण किए गए गुण-धर्मों का द्रव्य में सर्वथा अभाव नहीं हो जाता— द्रव्य का स्वरूप अपने में पूर्ण रहता है। यदि गौण रूप का सर्वथा अभाव माना जाय तो वस्तु-स्वरूप एकांत-मिथ्या हो जाय और ऐसे में अनेकान्त दृष्टि का भी व्याघात हो जाय। अनेकान्त तभी कार्यकारी है जब वस्तु अनेक धर्मा हो— "अनन्तधर्मणस्तत्त्वं", "सकलद्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता।"

अनेकान्त दृष्टि प्रमाण नयों पर आधारित है और एक देश भाग की ज्ञाता होने से नय दृष्टि युगपत् वस्तु के पूर्ण रूप की ज्ञाता नहीं हो सकती—इसलिए नयाश्रित ज्ञान छद्मस्थ के अधीन होने से वस्तु के एक देश को जान सकता है। वह अंश को जाने-कहे, यहां तक तो ठीक है। पर, यदि वह वस्तु को पूर्ण वैसी और उतनी ही मान बैठे तो मिथ्या है। यतः वस्तु, ज्ञान के अनुसार नहीं होती अपि तु वस्तु के अनुसार ज्ञान होता है। अतः जिसने अपनी शक्ति अनुसार जितना जाना वह उसकी शक्ति से (सम्यग्नयानुसार) उतने रूप में ठीक है। पूर्ण रूप तो केवलज्ञानगम्य है जैसा है वैसा है। नय ज्ञान उसे नहीं जान सकता है। फलतः—

आत्मा के स्वभाव रूप असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अवस्था में नकारा नहीं जा सकता। स्वभावतः आत्मा निश्चय-नय से तो असंख्यात प्रदेशी है ही, व्यवहार नय से भी जिसे शरीर प्रमाण कहा गया है वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है। यतः दोनों नयों को द्रव्य के मूल स्वभाव का नाश इष्ट नहीं। असंख्य प्रदेशित्व आत्मा का सर्वकाल रहने वाला गुण-धर्म है, जो नयों से कभी गौण और कभी मुख्य कहा या जाना जाता है। ऐसे में आत्मा को अनेकान्त

दृष्टि से प्रदेशी मान लेने की बात ही नहीं ठहरती। क्योंकि "अनेकान्तवाद" छद्मस्थों को पदार्थ के सत्स्वरूप में उसके अंश को जानने की कुंजी है, गौण किए गए अंशों को नष्ट करने या द्रव्य के स्वाभाविक पूर्ण रूप को जानने की कुंजी नहीं। यदि इस दृष्टि से वस्तु का सर्वथा एक अंश-रूप ही मान्य होगा तो "अनेकान्त सिद्धान्त" का व्याघात होगा।

यदि आत्मा में असंख्य प्रदेशित्व या अप्रदेशित्व की सिद्धि करनी हो तो हमें जीव की उक्त शक्ति को लक्ष्य कर 'प्रदेश' के मूल लक्षण को देखना पड़ेगा। उसके आधार पर ही यह संभव होगा। अतः यहाँ सिद्धान्त ग्रन्थों से "प्रदेश" के लक्षण उद्धृत किए जा रहे हैं

१. "स (परमाणु) यावतिक्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेशः।"

—परमाणु (पुद्गल का सर्वसूक्ष्म भाग जिसका पुनः खंड न हो सके) जितने क्षेत्र (आकाश) में रहता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

२. "प्रदेशोनामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाहः।" त० भा० ५-८

—प्रदेश नाम आपेक्षिक है वह सर्वसूक्ष्म परमाणु का अवगाह (क्षेत्र) है।

३. तैर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते।" - त० वा० २, ३८,

प्रदेशों के द्वारा आकाशादि (द्रव्यों के) क्षेत्र आदि का विभाग इंगित किया जाता है।

४. जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं।

तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥"

जितना आकाश (भाग) अविभागी पुद्गल अणु घेरता है, उस आकाश भाग को प्रदेश कहा जाता है।

५. "जेत्तियमेत्तं खेत्तं अणुणारुद्धं।" - द्रव्यस्व० नयच० १४०

—अणु जितने (आकाश) क्षेत्र को व्याप्त करता है उतना क्षेत्र प्रदेश कहलाता है।

६. "परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशः।" — प्र० सा० जयचंद वृ०

—परमाणु जितने क्षेत्र को व्याप्त करता है, उतना क्षेत्र प्रदेश कहा जाता है।

७. "शुद्धपुद्गलपरमाणुगृहीतनभस्थलमेव प्रदेशः।"

शुद्ध पुद्गल परमाणु से व्याप्त नभस्थल ही प्रदेश कहलाता है।

८. "निर्विभाग आकाशावयवः प्रदेशः।"

—निर्विभाग आकाशावयव प्रदेश होता है।

९. "प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा ॥३॥ प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः। कथं प्रदिश्यन्ते ? परमाण्ववस्थान परिच्छेदात् ॥४॥ वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणुः स यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। ते धर्माधर्मैकजीवा तुल्यासंख्येयप्रदेशा।" —तत्त्वा० राज० ५/८/३

१०. "प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं अविभागिपुद्गल-परमाणुनावष्टब्धम्।" —आलाप पद्धति

आगमों के उक्त प्रकाश से स्पष्ट है कि "प्रदेश" और अप्रदेश शब्द आगमिक और पारिभाषिक है और आकाशभाग (क्षेत्र) परिमाण में प्रयुक्त होते हैं। आगम के अनुसार आकाश के जितने भाग को जो द्रव्य जितना व्याप्त करता है वह द्रव्य आकाश के परिमाण के अनुसार उतने ही प्रदेशों वाला कहा जाता है।

शंका यदि "शब्दानामनेकार्थं" के अनुसार "प्रदेश" का "खण्ड" और "अप्रदेश" का "अखण्ड" अर्थ माने तो क्या हानि है ?

समाधान– शब्दों के अनेक अर्थ होते हुए भी उनका प्रासंगिक अर्थ ही ग्रहण करने का विधान है। जैसे सैंधव का अर्थ घोड़ा है और नमक भी। पर, भोजन प्रसंग में इस शब्द से "नमक" और यात्रा प्रसंग में "घोड़ा" ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के गुण-स्वभाव में "प्रदेश" "अप्रदेश" को आगमिक परिभाषा के भाव में लिया जायगा। अन्यथा शुद्धपयोगी आत्मा के संदर्भ में - "अप्रदेश" का अर्थ "एक प्रदेश" करने पर शुद्धात्मसिद्ध भगवान में एक प्रदेशी होने की आपत्ति होगी जब कि उन्हें "अप्रदेश" न मान कर सप्रदेश असंख्यात प्रदेशों वाला स्वाभाविक रूप में माना गया है। उनकी स्थिति "किंचिदूणा-चरमदेहदोसिद्धा" के रूप में है। प्रदेश का परिमाण आकाशक्षेत्रावगाह में माना गया है। आत्मा को अखण्ड मानने में कोई बाधा नहीं -- आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखण्ड है ही।

आगम में एक से अधिक प्रदेश वाले द्रव्य को "अस्तिकाय" और मात्र एक प्रदेशी द्रव्य को "अस्तिकाय" से बाहर रखा गया है। कालाणु और अविभाज्य पुद्गल परमाणु के सिवाय सभी द्रव्यों (आत्मा को भी) को अस्तिकाय से बाहर (एक प्रदेशी) द्रव्यों में गिनाया हो ऐसा पढ़ने और देखने में नहीं आया।

आत्मा को अप्रदेशी कहने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं कि "प्रदेशित्व" "अप्रदेशित्व का आधार आकाश की अवगाहना का क्षेत्र माना गया है—परमपारिणामिक भाव नहीं। यदि इनका मापदण्ड भावों से किया

गया होता तो आचार्य अरहंतों और सिद्धों को भी "अप्रदेशी" घोषित करते, जबकि उन्होंने ऐसा घोषित नहीं किया।

उक्त विषय में अन्य आचार्यों के वचन ऊपर प्रस्तुत किए गए। आचार्य कुन्दकुन्द ने संबंधित विषय को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे भी देखना आवश्यक है क्योंकि "समयसार" उन्हीं की रचना है। "समयसार" के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में कहा गया है

"अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे॥"

समयसार ३४२

"जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्यो, असंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।"
टीका, अमृतचन्द्राचार्य (आत्मख्याति)

आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चाऽसंख्यातप्रदेशो देशित समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्ध चैतन्यान्वयलक्षण द्रव्यत्वं तथैवाऽसंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव निरूपित।" टीका, जयसेनाचार्य, (तात्पर्यवृत्ति

—उक्त सन्दर्भ को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं स्पष्ट है। गाथा में "नित्य", आत्मख्याति में "द्रव्यरूपेण", और तात्पर्यवृत्ति में "द्रव्यार्थिकनयेन", ये तीनों विशेषणनिर्देश द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय के कथन को इंगित करते हैं। एतावता इस प्रसंग में आत्मा के असंख्यात प्रदेशित्व का कथन निश्चयनय की दृष्टि से ही किया गया है, व्यवहार नय की दृष्टि से नहीं।

आगम में व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के यथेच्छ रीति से प्रयोग करने की हमें छूट नहीं दी गई। इनके प्रयोग की अपनी मर्यादा है। निश्चय नय के कथन में वस्तु की स्वभाव शक्ति एवं गुण धर्म की मुख्यता रहती है और व्यवहार नय में उपचार की। इसके अनुसार आत्मा का बहुप्रदेशित्व निश्चयनय का कथन है, व्यवहारनय का नहीं।

इसका फलितार्थ यह भी निकलता है कि जो कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के स्वभावरूप-परम पारिणामिक भाव-रूप सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा को नित्य एवं असंख्यप्रदेशी घोषित करते हैं, वे ही आचार्य आत्मा को कथमपि किसी भी प्रसंग में अप्रदेशी नहीं कह सकते —

"जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेसत्ति कालस्स॥

— कुन्दकुन्द प्रवचनसार ४३

"अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येय—प्रदेशापरित्यागात् जीवस्य।" —वही, अमृतचन्द्राचार्य-तत्वदीपिका

"तस्य तावत संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत् प्रदेशानां हानिवृद्धयोरभावात् व्यवहारे देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येय प्रदेशत्वम्।"

—वही, जयसेनाचार्य, तात्पर्यवृत्ति

जीव के असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अपेक्षा से उपचार या व्यवहार का कथन नहीं माना जा सकता। प्रदेश व्यवस्था द्रव्यों के स्वाधीन है और वह उनका स्वभाव ही है और स्वभाव में उपचार नहीं होता। तत्वार्थ राजवार्तिक (५/८/१३) का कथन है कि—

"हेत्वपेक्षाभावात् ॥३॥ पुद्गलेषु प्रसिद्धहेतुमवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचारः न क्रियते तेषामपि स्वाधीन प्रदेशत्वात्। तस्मादुपचार कल्पना न युक्ता।"

स्वर्गीय, न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी का यह कथन विशेष दृष्टव्य है :—

"शुद्ध नय दृष्टि से अखण्ड उपयोग स्वभाव की विवक्षा से आत्मा में प्रदेश भेद न होने पर भी संसारी जीव अनादि कर्म-बन्धनबद्ध होने से सावयव ही है।" —त० वा० (ज्ञानपीठ) पृ० ६६६

एक बात और। अपेक्षाश्रित होने से नय-दृष्टि में वस्तु का पूर्ण त्रैकालिक-शुद्धस्वभाव गम्य नहीं होता। पूर्ण ग्रहण तो सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा ही होता है। इसीलिए आचार्य पदार्थज्ञान को नय-दृष्टि से अतीत घोषित करते हैं। वे कहते हैं :—

"णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।"
"सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।"

—समयसार, १४२, १४४

मूर्त द्रव्य में तो परमाणु की प्रदेश संज्ञा मानी जा सकती है, पर प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की वहां भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुद्गल द्रव्य के सिवाय सभी अमूर्त द्रव्यों में प्रदेश का भाव आकाश क्षेत्र से ही होगा उपयोग के अनुसार नहीं।

मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंताणूनां पिण्डा स्कंधास्त एव निविधा प्रदेशा भण्यंते न च क्षेत्रप्रदेशाः।—(शेषाणां क्षेत्रापेक्षेति फलितम्)

—बृ० द्रव्य सं० टीका गाथा २५

सिद्धत्व पर्याय में उस पर्याय के उपादान कारणभूत शुद्धात्मद्रव्य के क्षेत्र का परिमाण—चरमदेह से किंचित् न्यून है जो कि तत्पर्याय (अंतिम शरीर) परिमाण ही है, एक प्रदेश परिमाण नहीं।

'किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतशुद्धात्म-द्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव।' ——वही

द्रव्यसंग्रह में शंका उठाई गई है कि सिद्ध-आत्मा को स्वदेहपरिमाण क्यों कहा? वहां स्पष्ट किया है कि—

'स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति।'

——वही गाथा टीका

स्मरण रहे कि कोई आत्मा को अणुमात्र (अप्रदेशी) कहते हैं और कोई व्यापक। उनकी मान्यता समीचीन नहीं, यहां यह स्पष्ट किया है।

'निश्चयेन लोकमात्रोऽपि। विशिष्टावगाहपरिणाम-शक्तियुक्तत्वात् नाम-कर्म निर्वृत्तमणुमहत्शरीरमधिनिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रो।' -- (त० टी०)

निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽसंख्येयप्रदेशप्रमितोऽपि व्यवहारेण शरीर-नामकर्मोदयजनिताणुमहच्छरीरप्रमाणत्वात् स्वदेहमात्रो भवति।'——

- (तात्पर्य वृ०) २७,

यदि उपयोगावस्था में आत्मा अप्रदेशी माना जाता है तो आत्मा के अखंड होने से यह भी मानना पड़ेगा कि आत्म प्रदेश वृहत् शरीर में सिकुड़ कर अप्रदेशमात्र-अवगाह में हो जाते हैं और शेष पूरा शरीर भाग आत्महीन (शून्य) रहता है- जैसा कि पढ़ने-सुनने में नहीं आया।

छद्मस्थ का ज्ञान प्रमाण और नयगर्भित है और केवली भगवान का ज्ञान प्रमाणरूप है। नय का भाव अंशग्राही और प्रमाण का भाव सर्वग्राही है। दोनों में ही अनेकान्त की प्रवृत्ति है, अनेकान्त की अवहेलना नहीं की गई—'अनेकान्तोऽप्यनेकान्त'। प्रसंग में भी इसी आधार पर आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व का विधान किया गया है तथाहि —

अनेकान्त की दो कोटियां हैं। एक ऐसी कोटि जिसमें अपेक्षादृष्टि से अंशों को क्रमशः जाना जाय और दूसरी कोटि वह जिसमें सकल को युगपत् प्रत्यक्ष जाना जाय। प्रथम कोटि में रूपी पदार्थों को जानने वाले चार ज्ञानधारी तक के सभी छद्मस्थ आते हैं। इन सभी के ज्ञान परसहायापेक्षी आंशिक और क्रमिक होते हैं। प्रत्यक्ष होने पर भी वे 'देश-प्रत्यक्ष' ही कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में इन सभी को एक समय में एक प्रदेशग्राही भी माना जा सकता है यानी ये

एक प्रदेश (ऊर्ध्वप्रचय) के ज्ञाता होते हैं। दूसरी कोटि मे केवली भगवान को लिया जायगा यत: वे एक और एकाधिक अनंत प्रदेश (तिर्यकप्रचय-बहुप्रदेशी द्रव्य) के युगपत् ज्ञाता है। आचार्यों ने इसी को ध्यान में लेकर ऊर्ध्व प्रचय को 'क्रमाऽनेकान्त' और तिर्यक् प्रचय को 'अक्रमानेकान्त' नाम दिये हैं—

'तिर्यक्प्रचय तिर्यक् सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति 'अक्रमाऽनेकान्त इति च भण्यते।···ऊर्ध्व प्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति 'क्रमानेकान्त' इति च भण्यते। —प्रव० सार (ता० वृ) १४१।२००।६

'वस्तु का गुण समूह अक्रमाऽनेकान्त है क्योंकि गुणो की वस्तु मे युगपद-वृत्ति है और पर्यायो का समूह क्रमाऽनेकान्त, है क्योंकि पर्यायो की वस्तु में क्रम में वृत्ति है' -- जैनेन्द्र सि० कोष पृ० १०८

स्पष्ट है कि क्रमाऽनेकान्त मे वस्तु का स्वाभाविक पूर्णरूप प्रकट नही होता, स्वाभाविक पूर्णरूप तो अक्रमाऽनेकान्त में ही प्रकट होता है और बहुप्रदेशित्व का युगपद्ग्राही ज्ञान केवलज्ञान ही है। अत: केवलज्ञानगम्य—प्रदेशसम्बन्धी वही रूप प्रमाण है, जो सिद्ध भगवान का रूप है—

किंचिदूणा चरम देहदो सिद्धा.।' अर्थात्—असंख्यात प्रदेशी।

आगम मे द्रव्य का मूल स्वाभाविक लक्षण उसके गुणो और पर्यायो को बतलाया गया है और ये दोनों ही सदाकालद्रव्य मे विद्यमान हैं। द्रव्य के गुण द्रव्यार्थिक नय और पर्यायें पर्यायार्थिक नय के विषय है। जब हम कहते है कि 'आत्मा अखण्ड है' तो यह कथन द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और जब कहते है कि 'आत्मा असंख्यात-प्रदेशी है' तो यह कथन पर्यायार्थिकनय का विषय होता है दोनो ही नय निश्चय मे आते है। जिसे हम व्यवहार नय कहते है वह द्रव्य को पर-संयोग अवस्थारूप मे ग्रहण करता है। चूंकि आत्मा का असंख्य-प्रदेशत्व स्वाभाविक है अत: वह इस दृष्टि से व्यवहार का विषय नही—निश्चय का ही विषय है। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनो मे एक की मुख्यता मे दूसरा गौण हो जाता है—द्रव्यस्वभाव में न्यूनाधिकता नही होती अत: स्वभावत: किसी भी अवस्था में आत्मा अप्रदेशी नही है। वह त्रिकाल असंख्यात प्रदेशी तथा अखण्ड है।

आत्मा को सर्वथा असंख्यातप्रदेशी मानने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव भी नही होता। यत: अर्थक्रियाकारित्व का अभाव वहां होता है जहां द्रव्य के अन्य धर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर उसे एक कूटस्थ धर्मरूप में ही स्वीकार किया जाता है। यहां तो हमे आत्मा के अन्य सभी धर्म स्वीकृत है केवल प्रदेशत्वधर्म

के सम्बन्ध में ही उसके निर्धारण का प्रश्न है यहाँ अन्य धर्मों के रहने से स्वभावशून्यता भी नहीं होगी और ना ही द्रव्यरूपता का अभाव। यदि एक धर्म के ही आसरे से (अन्य धर्मों के रहते हुए) अर्थक्रियाकारित्व की हानि होती हो तब तो एकप्रदेशी होने से कालाणु, पुद्गलाणु में और असंख्यातप्रदेशी होने से सिद्धों में भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा - पर ऐसा होता नहीं।

राजवार्तिक में आत्मा के अप्रदेशपने का भी कथन है पर वह आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व के निषेध में न होकर शुद्धदृष्टि को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है अर्थात् आत्मा यद्यपि परमार्थ से असंख्यातप्रदेशी अवश्य है तथापि शुद्ध-दृष्टि की विवक्षा में बहुप्रदेशीपने को गौण कर अखण्डरूप में ग्रहण करने के लिए अभिप्रायवश उसे अप्रदेशरूप कहा गया है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा को लक्ष्य कर नहीं।

प्रकृत में उपसंहाररूप इतना विशेष जानना चाहिए कि जहाँ तक मोक्षमार्ग का प्रसंग है, उसमें निश्चय का अर्थ करते समय, उसमें यथार्थता होने पर भी अभेद और अनुपचार की मुख्यता रखी गई है। इस दृष्टि को साथ कर जब अप्रदेशी का अर्थ किया जाता है तब प्रदेश का अर्थ भेद या भाग करने पर अप्रदेश का अर्थ अखण्ड हो जाता है। इसलिए परमार्थ से जीव के स्व-स्वरूप-शक्ति से असंख्यातप्रदेशी होने पर भी दृष्टि की अपेक्षा उसे अखण्डरूप में अनुभव करना आगम सम्मत है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से आत्मा असंख्यातप्रदेशी और अखण्ड है ही और प्रदेशावगाही होकर भी उसके असंख्यप्रदेशी हो सकने में कोई बाधा नहीं। इसका निष्कर्ष है कि आत्मा अप्रदेशी तथा अखण्ड नहीं, अपितु असंख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

□□

卐 स्वस्तिक रहस्य

आस्तिक भारतीयों में, चाहे वे वैदिक मतावलम्बी हों या सनातन-जैन मतावलम्बी। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी की मांगलिक क्रियाओं में (जैसे विवाह आदि षोडश संस्कार, चूल्हा-चक्की स्थापना, दुकानदारों के खाता-बही, तराजू-बाट के मुहूर्त में) तीन परिपाटियां मुख्य रूप से देखने को मिलती है। कुछ लोग 'ॐ' लिख कर कार्य प्रारम्भ करते हैं और कुछ स्वस्तिक अंकित कर कार्य का श्रीगणेश करते है। इसके सिवाय कुछ लोग ऐसे भी है, जो दोनों को प्रयोग में लाते है। वे 'ॐ' भी लिखते है और स्वस्तिक भी अंकित करते है। ग्रामीण अनपढ़ स्त्रियां भी इन विधियों को सादर अपनाती है। जैनियों के आगमों में 'ॐ' और 'स्वस्तिक' को प्रमुख स्थान दिया गया है। वेदों में भी ॐकार को 'प्रणव' माना गया है, और प्रत्येक वेद मन्त्र का उच्चारण ॐकार से प्रारम्भ होता है। 'स्वस्ति' शब्द भी वेदों में अनेक बार आता है जैसे 'स्वस्ति न इन्द्र' इत्यादि। जब एक ओर भारत में इनका इतना प्रचार है, तब दूसरी ओर जर्मन देश भी 'स्वस्तिक' से वंचित नहीं है। वहां स्वस्तिक चिह्न को राजकीय सम्मान मिला हुआ है। गहराई से खोज की जाय तो अंग्रेजों के क्रास चिह्न में भी 'स्वस्तिक' की मूल झलक मिल सकती है। सम्भावना हो सकती है कि ईसा को फांसी के बाद चिह्न का नामान्तर या भावान्तर कर दिया गया हो।

'ॐ' के सम्बन्ध में विविध मतावलम्बी विविध-विविध विचार प्रस्तुत करते है और विचार प्रसिद्ध भी है यथा 'ॐ' परमात्मा वाचक है, 'मंगल स्वरूप है' इत्यादि। जैनियों की दृष्टि में 'ॐ' पंचपरमेष्ठी वाचक एक लघु संकेत है इसे पंचपरमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस प्रकार जिन शासन में णमोकार मन्त्र की अपार महिमा है। प्रत्येक जैन, चाहे वह किसी पन्थ का हो, हिमालय से कन्याकुमारी तक इस मन्त्र को एक स्वर से पढ़ता है। मन्त्र इस प्रकार है—

'णमो अरहंताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण॥'

अरहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार और लोक में सर्व साधुओं (श्रमण जैन) मुनियों को नमस्कार।

ॐ में परमेष्ठी

यदि उक्त मन्त्र को सर्वगुण सम्पन्न रखते हुए, एकाक्षर में उच्चारण करना हो तो 'ॐ' मात्र कह देने से निर्वाह हो जाता है, क्योंकि 'ॐ' को शास्त्रों में बीजाक्षर माना गया है। जिस प्रकार छोटे से बीज में वृक्षरूप होने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार 'ॐ' में पूरे णमोकार मन्त्र की सामर्थ्य है, क्योंकि 'ॐ' में पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं। तथाहि--

'अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो पढमक्खर णिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥''

अरहन्त, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि, इन पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर से सम्पन्न 'ॐ' है, और यह 'ॐ' परमेष्ठी वाचक है। तथाहि—

अरहन्त, का अ, अशरीर (सिद्ध) का अ, आचार्य का आ उपाध्याय का उ और मुनि का म्।

अ + अ आ (अक सवर्ण दीर्घ) +

आ + आ आ (.. .. ..) +

आ + उ ओ (आद्गुण)

ओ + म् ओम् - अनुस्वारयुक्त रूप ॐ

पंच परमेष्ठियों के आद्यक्षरों से निष्पन्न 'ॐ' की महिमा इस प्रकार निर्दिष्ट है—

ओंकार बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

बिन्दु सहित ओंकार का योगीजन नित्य ध्यान करते हैं। यह ओंकार इच्छित पदार्थ-दाता और मोक्षप्रदाता है। उस ओंकार को नमस्कार हो।

उपनिषद्कार के शब्दों में—'ओंकारे परमात्मप्रतीके दृढ़ैकाग्र्यतमाधानं मति सन्तनुयात्-छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य।' १, १। इसे 'प्रणव' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि यह कभी भी जीर्ण नहीं होता। इसमें प्रतिक्षण नवीनता का संचार होता है और यह प्राणों को पवित्र और संतुष्ट करता है। 'प्राणान् सर्वान् परमात्मनिप्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः।'

ऊपर कहे गये णमोकार मन्त्र की मंगलरूपता मन्त्र के साथ पढ़े जाने वाले माहात्म्य से निर्विवाद सिद्ध होती है। आगमों में अन्य अनेकों मन्त्रों को भी मंगलरूपता प्राप्त है, पर मुख्यतः दो ही प्रसंग ऐसे आते हैं, जिनमें मंगल शब्द

का स्पष्ट उल्लेख है —'णमोकार मन्त्र' और 'मंगलोत्तमशरणपाठ ।'' णमोकार मन्त्र के सम्बन्ध में कहा गया है—

'एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥'

यह पंच नमस्कार सर्व पापों को नाश करने वाला और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है ।

उक्त विवरण के प्रकाश में, मंगल कार्यों में 'ॐ' का प्रयोग किया जाना स्पष्टतः परिलक्षित होता है, जो उचित ही है । पर 'स्वस्तिक' के सम्बन्ध में अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है । कोई इसे चतुर्गति भ्रमण और मुक्ति का प्रतीक मानता चला आ रहा है तो कोई ब्राह्मी लिपि के 'ऋ' वर्ण के समाकार मानकर इसे ऋषभदेव का प्रतीक सिद्ध करने के प्रयत्न में है । मत ऐसा भी है कि यह 'संस्थापक' के भाव में है । तात्पर्य यह कि अभी कोई निष्कर्ष नहीं मिल रहा है । अतः उसकी वास्तविकता पर विचार करना श्रेयस्कर है ।

स्वस्ति, स्वस्तिक या सांथिया

'स्वस्तिक' संस्कृत भाषा का अव्ययपद है । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इसे वैयाकरण कौमुदी में ५८वें क्रम पर अव्यय पदों में गिनाया गया है । यह 'स्वस्तिक' पद 'सु' उपसर्ग तथा 'अस्ति' अव्यय (क्रम ७१) के संयोग से बना है, यथा – सु + अस्ति = स्वस्ति । इसमें 'इकोयणचि' सूत्र से उकार के स्थान में वकार हुआ है ।

बहुत से लोग 'अस्ति' को क्रियापद मान कर उसका 'है' या 'हो' अर्थ करते हैं, जो उचित नहीं है, क्योंकि यहां 'अस्ति' पद क्रियारूप में नहीं है, अपितु 'तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय' है । जैसे कि 'अस्तिक्षीरा' में तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है । वैसे 'स्वस्ति' में भी 'अस्ति' को अव्यय माना गया है, और 'स्वस्ति' अव्यय पद का अर्थ कल्याण, मंगल, शुभ आदि के रूप में किया गया है । प्रकृत में उपर्युक्त 'स्वस्तिक' शब्द भी इसी 'स्वस्ति' का वाचक है । जब 'स्वस्ति' अव्यय से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय हो जाता है, तब यही 'स्वस्ति' प्रकृत में 'स्वस्तिक' नाम पा जाता है । परन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं होता । 'स्वस्ति एव स्वस्तिक' की इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो 'स्वस्ति' है वही 'स्वस्तिक' है और जो 'स्वस्तिक' है वही 'स्वस्ति' है । उक्त प्रसंग से ऐसा फलित हुआ कि सभी 'स्वस्ति' स्वस्तिक है और सभी 'स्वस्तिक' 'स्वस्ति' हैं, अर्थात् 'स्वस्ति' और स्वस्तिक' में कोई भेद नहीं है । यतः—'स्वस्ति एव स्वस्तिकः' ।

प्राकृत भाषा मे 'स्वस्ति' या 'स्वस्तिक' के विभिन्न रूप मिलते है। जिन रूपों का प्रयोग मगल, क्षेम, कल्याण जैसे प्रशस्त अर्थों मे किया गया है, उनमे कुछ इस प्रकार है—

(१) सत्थि (स्वस्ति) 'सत्थि करेई कविनो'। —पउमचरिउ, ३५।६२,

(२) सत्थि (स्वस्ति क्षेम, कल्याण मगल, पुण्य आदि), हे० २।४५, म० २१।

(३) सत्थिअ (स्वस्तिक) प्रश्न व्याकरण, पृ० ६८, सुपासनाह चरिअ ५२, श्रा० प्र० सू० २७।

(४) सत्थिक, ग (स्वस्तिक) पाइअ सद्द महण्णव कोष, पचासक प्रकरण ४।२३।

(५) सोत्थय (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पचासक प्रकरण।

(६) सोवत्थिअ (स्वस्तिक) उववाई सूत्र, ज्ञातृ धर्मकथा, पृष्ठ ५४।

उक्त सभी शब्द-रूपो मे मगलभाव निहित है। अत यह निश्चय ही हो जाता है कि 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक का प्रयोग भी 'ॐ' की भाँति मगल निमित्त होना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि जैसे 'ॐ' को पच परमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वैसे स्वस्तिक को किसका प्रतिनिधित्व प्राप्त है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि—

जब यह निश्चय हो चुका कि 'स्वस्तिक' निर्माण मे मगल कामना निहित है, तो यह भी आवश्यक है कि इसमे भी 'ॐ' की भाति कोई मगल निहित होना चाहिए। इसकी खोज के लिए जब हम णमोकार मन्त्र मे आगे चलते है, तब हमे उसी पाठ मे परम्परागत चतु शरण पाठ मिलता है और इस पाठ को स्पष्ट रूप मे मगल घोषित किया गया है, यथा—'चत्तारिमगलं' इत्यादि। इस पाठ को आज सभी जैन आबालवृद्ध पढ़ते हैं। पूरा पाठ इस भाति है—

'चत्तारि मगलं'। अरहता मगलं। सिद्धा मगल, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा। अरहता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा

चत्तारिसरणं पवज्जामि। अरहते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहूसरणं पवज्जामि। केवलि पण्णत्त धम्म सरणं पवज्जामि।

उक्त पूरा पाठ 'मंगलोत्तमशरण' या 'चतु:शरण' पाठ के नाम से प्रसिद्ध है और णमोकार मन्त्र के क्रम में उसी के बाद बोला जाता है। यह मंगल अर्थात् 'स्वस्ति पाठ' णमोकार मन्त्र की भांति प्राचीनतम प्राकृत भाषा में निबद्ध और मंगल शब्द के निर्देश से युक्त है। अन्य स्थलों पर हमें बहुत से अन्य मंगल भी मिलते हैं। पर वे न तो प्रतिदिन नियमित रूप से सर्व साधारण में पढ़े जाते हैं और न ही मूल मन्त्र—णमोकारगत पंच परमेष्ठियों का बोध कराते है। अतः 'मंगल' में चत्तारि-पाठ की प्रमुखता णमोकार मन्त्र की भांति सहज सिद्ध हो जाती है।

स्थानकवासी संप्रदाय मे 'चत्तारिमंगलं' पाठ 'मंगली' के नाम से ही प्रसिद्ध है। यत जब कोई श्रावक मंगल कामना से साधु-साध्वियों से प्रार्थना करता है कि महाराज ! 'मंगली' सुना दीजिए, तो वे सहर्ष 'चत्तारिपाठ' द्वारा उसे आशीर्वाद देते हैं। इस मंगल पाठ का भाषान्तर (हिन्दी रूप) भी बहुत बहुलता से प्रचारित है, यथा—

'अरिहंत जय जय, सिद्ध प्रभु जय जय ॥
साधु जीवन जय जय, जिन धर्म जय जय ॥
अरिहंत मंगलं, सिद्ध प्रभु मंगलं।
साधु जीवन मंगलं, जिन धर्म मंगलं ॥
अरिहंत उत्तमा, सिद्ध प्रभु उत्तमा।
साधु जीवन उत्तमा, जिन धर्म उत्तमा ॥
अरिहंत शरणा, सिद्ध प्रभु शरणा।
साधु जीवन शरणा, जिन धर्म शरणा ॥
ये ही चार शरणा, दुख दूर हरना।
शिव सुख करना, भवि जीव तरणा ॥'

इस सर्व प्रसंग का तात्पर्य ऐसा निकला कि उक्त मूल-पाठ जो प्राकृत मे है और 'चतु: मंगल' रूप मे है, वह मंगल, कल्याण, शान्ति और सुख के लिए पढ़ा जाता है तथा 'स्वस्ति या स्वस्तिक' (मंगल कामना) से सम्बन्धित है।

'दिगम्बर आम्नाय' में पूजा को श्रावक के दैनिक षट्कर्मों मे प्रथम गिनाया गया है। वहाँ प्रथम ही देवशास्त्रगुरु की पूजा की जाती है और पूजा का प्रारम्भ दोनों (णमोकारमंत्र और चतु:शरण पाठ) और उनके महात्म्य से होता है। जैसे णमोकार मन्त्र वाचन का प्रथम क्रम है, वैसे उसके माहात्म्य वाचन का क्रम भी प्रथम है, यथा—

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
ध्यायेत् पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत् परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ।
अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥
एसो पंचणमोयारो सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

इसी क्रम में जब हम पूजन प्रारम्भ करते हैं, हमें 'मंगलोत्तमशरण पाठ का माहात्म्य और 'मंगलोत्तमशरण पाठ' के मूलभूत अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म के विशेष गुण पढ़ने को मिलते हैं । यथा —

'स्वस्ति' त्रिलोकगुरवे जिनपुंगवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदयसुस्थिताय ।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय ॥
स्वस्त्युच्छलद्विमलबोधसुधाप्लवाय,
स्वस्ति स्वभावपरभावविभासकाय ।
स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिदुद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ॥'
इत्यादि ।

उक्त प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी श्लोकों में प्रधान पद 'स्वस्ति' ही है, जो हमें 'स्वस्तिक' नाम से मिलता है, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'स्वस्ति एव स्वस्तिकम्' । ऊपर के वर्णन में हमें देव (अरहंत-सिद्ध) और धर्म (बोध) की स्पष्ट झलक मिल रही है और इनको मंगल कहा गया है, तथा 'स्वस्ति' और स्वस्तिक दोनों का अर्थ मंगल है । आगे चल कर इसी पूजा प्रसंग में हम साधुओं की 'स्वस्तिरूपता' उनकी ऋद्धियों के वर्णन में पढ़ते हैं । अरहंत रूप में तीर्थंकरों की 'स्वस्ति'-रूपता पढ़ने को मिलती है । अरहंत और साधुओं के लिए निम्न स्वस्ति' विधान है—अरहंत स्वस्ति—

श्री वृषभो नः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अजितः ।
श्री संभवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनंदनः ॥

इत्यादि ।

साधु स्वस्ति—

नित्याप्रकंपाद्भुतकेवलौघाः,
स्फुरन्मनः पर्यय शुद्धबोधाः ।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधाः,
स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो नः ॥
कोष्ठस्थ धान्यपममेकबीज,
संभिन्नसंश्रोतृपदानुसारि ।
चतुर्विध बुद्धिबलंदधानाः,
स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो नः ॥ इत्यादि ॥

ऊपर के समस्त प्रसग में यह भली भांति सिद्ध है कि अरहंत आदि चारों 'स्वस्ति' रूप हैं और जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है यह स्वस्ति उस 'स्वस्तिक का ही रूप है, जिसे 卐 आकार मे स्थापित किया जाता है। यत.— 'स्वस्ति एव स्वस्तिकं ।'

जैन धर्म के ग्रन्थो मे मगलो का चलन छह प्रकार से माना गया है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के अनुसार कर्ता [यथाशक्ति] इन छहों मे किसी को भी अपनाकर कार्य प्रारम्भ कर लेता है। ॐ और स्वस्तिक ये दोनों स्थापना मगल मे आते है और ये दोनो ही बृहत्शक्ति के लघु (बीजरूप) है। मगल के छह प्रकार इस भाँति है—

णामणिट्ठावणा दव्वखेत्ताणि कालभावा य ।
इयछब्भेय भणिय, मगलमाणदसजणण ॥'

— तिलोयपण्णत्ति १।१८

नाममगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्र मगल, कालमगल और भाव-मंगल ये मगल के छह प्रकार है।

जैसे शान्ति प्राप्त्यर्थ मुखद्वारा, भावो द्वारा मंगलाचरण, किए जाते हैं वैसे ही काय द्वारा स्वस्तिक-रचना-रूप मगल किया जाता है। यह तो पूर्ण निर्विवाद है कि —

'मगल कीरदे पारद्धकज्जविग्घयरकम्मविणासणट्ठ ।'

—कसाय पाहुड १।१

'सत्थियणंदावत्तयपमुहा० ।' —ति० प० १।७

प्रारम्भकार्यों मे विघ्न निवारण के लिए मंगल किया जाता है। या स्वस्तिक, नद्यावर्त प्रमुख कार्य किए जाते हैं। भरत जैसे चक्रवर्ती ने भी

दिग्विजय के बाद शिला पर अपना नाम लिखने में भी 'स्वस्ति' का प्रयोग किया है। तथाहि—

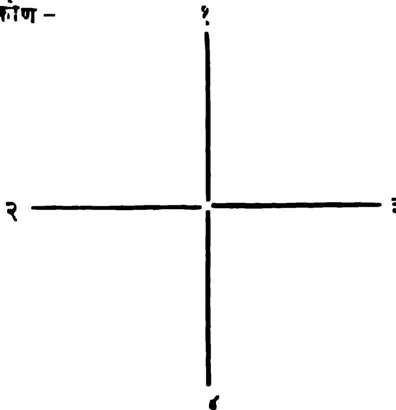
'स्वस्तीक्ष्वाकुकुलव्योमतलप्रालेयदीधिति.।
चातुरन्तमहीभर्ता भरत: शातमातुर ॥" —आदिपुराण ३२।१४५

तीर्थंकरो के शरीर संबंधी १०८ लक्षणों में भी स्वस्तिक एक शुभचिह्न माना गया है—

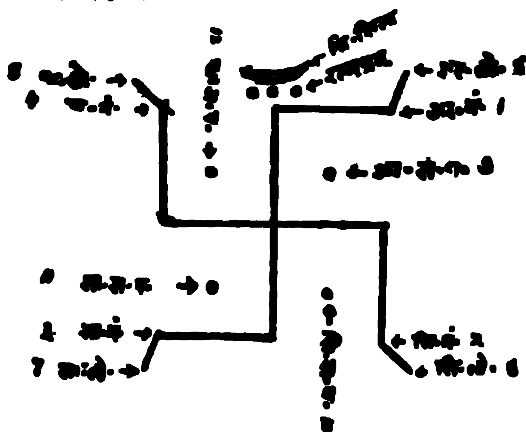
इसमें संदेह नहीं कि मंगल, सुख, शान्ति व कल्याण के लिए चारों मंगलों, चारों उत्तम, और चारों शरण (पाठ) का आसरा लिया जाता है। गृहस्थाचार सम्बन्धी कार्यों में जो यंत्र पूजा-विधानादि में स्थापित किए जाते हैं, उन यंत्रों—विनायक यंत्र, शान्तिविधान यंत्र, शान्तियंत्र, में '**चत्तारि-मंगलोत्तमशरण**' पाठ लिखा होता है, इस सबसे यही सिद्ध होता है कि स्वस्तिक इन्ही चारों का प्रतिनिधि होना चाहिए।

प्रश्न होता है कि स्वस्तिक का जो रूप प्रचलित है उसकी मंगलोत्तम शरण पाठ में संगति कैसे बिठाई गई है? पर यह प्रश्न स्वस्तिक की बनावट से सहज ही हल हो जाता है। स्वस्तिक बनाने वाले का भाव मंगलोत्तमशरण की स्थापना का है और वह एक एक पद के लिए एक एक विधि पूरी करता जाता है। यद्यपि मूल (आज) विस्मृत होने से वह ऐसा भाव नहीं बिठा पाता जो कि उसे बिठाना चाहिए। वास्तव में स्वस्तिक रचना के समय जो भावना रहनी चाहिए उसका रचनाक्रम इस प्रकार है (स्मरण रहे कि रचना बनाते समय प्रतिपद उच्चारण के साथ ही चिह्न बनाना चाहिए)

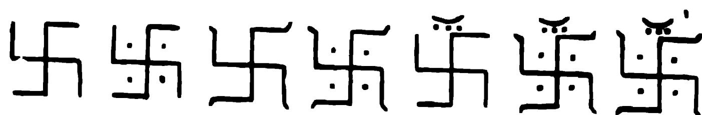
चत्तारिमंगलं, चत्तारिलोगुत्तमा और चत्तारिशरण की चार संख्या के प्रतिनिधि चार कोण—



नोट—उक्त प्रतीक नीचे अलग-अलग दिखला कर, शेष मन्त्र के प्रतीक पृथक्-पृथक् लकीरों में संकेतों द्वारा स्पष्ट किए गए हैं—



नोट—(१) पाठ उच्चारण करते हुए, क्रमांकों के क्रम से लकीरें खींचना चाहिए। स्वस्तिक के प्रचलित अन्य रूप इस भांति भी हैं—



□□

परिशिष्ट

(अपदेससंतमज्झं)

धवला टीका समन्वित षट्खण्डागम की जीवस्थान नामक सत्प्ररूपणा की प्रथम पुस्तक हमारे हाथों में है। इसमें आए 'संत' 'अपदेस' दोनों शब्द हमारी दृष्टि में हैं। ये ही शब्द समयसार की १५वीं गाथा में अर्थ की दृष्टि से विवाद के विषय बने हुए हैं और इनके स्पष्टीकरण के प्रयत्न हमने भी अपने 'अपदेस-संतमज्झं' प्रसंग में किए हैं। अब संत के सम्बन्ध में इतना विशेष है कि –

१. षट्खण्डागम के सातवें सूत्र में 'संतपरूवणा' पद का और धवला में 'संताणियोग' पद का प्रयोग मिलता है। इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ १५५ पर एक टिप्पण भी मिलता है जो तत्त्वार्थ राज वा० के मूल का कुछ अंश है 'सत्त्व ह्यव्यभिचारि' इत्यादि। ऐसे ही षट्खण्डागम के आठवें सूत्र में 'संत' पद है। यथा – संतपरूवणदाए··।' इसके विवरण में सत् सत्त्वमित्यर्थः' भी मिलता है। इसी पुस्तक में पृ० १५८ पर कहीं से उद्धृत एक गाथा भी मिलती है। यथा – 'अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं।" इस गाथा के अर्थ में लिखा है कि—अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा कहते हैं। यहाँ भी 'संत' शब्द दृष्टव्य है।

उक्त पूरे प्रसंग में दो तथ्य सामने आते हैं। पहिला यह कि सभी जगह 'संत' का प्रयोग 'संस्कृत के सत्' शब्द के लिए हुआ है। यह बात भी किसी से छिपी नहीं कि 'संतपरूपणा' में उसी 'सत्' का वर्णन है जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'सत्संख्याक्षेत्र' सूत्र में दर्शाया है। यानी जिसे संस्कृत में 'सत्' कहा वही प्राकृत में 'संत' कहा गया है। अतः संत का सत् स्वभावतः फलित है। दूसरा तथ्य यह कि 'सत्' शब्द सत्त्व के भाव में है, अतः सत्, संत, सत्त्व, सत्त ये सभी एकार्थवाची सिद्ध होते हैं। पुस्तक के अन्त में जो 'संतसुत्त-विवरण सम्मत्त' आया है उसमें भी 'संत' का प्रयोग सत् के लिए ही है।

'संत' शब्द के प्रयोग 'सत्' अर्थ में अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। यथा--

—'संतकम्ममहाहियारे—जय. ध. अ. ५१२ व प्रस्तावना ष. प्र. पु. पृ.६६

—'एसो संत-कम्मपाहुड उवगमो'— धव० प्र० पु० पृ० २१७

—'आयरिय कहियाण संतकम्मकसायपाहुडाण···। वही, पृ० २२१

सत्त महाधवलप्रति के अन्तर्गत ग्रन्थ रचना के आदि में 'संतकम्म-पंजिका' है। इसके अवतरण में अभी 'सत्त' शब्द भी मेरे देखने में आया है 'पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परुविदाणि।'— यह संतकम्मपंजिका ताडपत्रीय महाधवल की प्रति के २७वें पृष्ठ पर पूर्ण हुई है और षट्खंडागम पुस्तक ३ में इसका चित्र भी दिया गया है। (देखें— प्रस्तावना, षट्खंडागम पुस्तक ३ पृ० १ व ७) अत इस उद्धरण से इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि प्रसंग में 'संत' या सत्त शब्द सत्त्व—आत्मा के अर्थ में ही है। और मज्झं का अर्थ मध्य है जो 'आत्मा को आत्मा के मध्य' अर्थ ध्वनित करता हुआ आत्मा में आत्मा का एकत्वपन झलका कर आत्मा को अन्य पदार्थों से 'असंयुक्त' सिद्ध करता है।

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा २६ में 'अत्तमज्झं' पद का और समयसार की गाथा १५ में 'संतमज्झं' या सत्तमज्झं' का प्रयोग किया है और नियमसार की उक्त गाथा की संस्कृत छाया में 'अत्तमज्झं' का अर्थ 'आत्म-मध्य' किया है।' इसी प्रकार 'संतमज्झं' या 'सत्तमज्झं' की संस्कृत छाया भी सन्मध्य या सत्त्वमध्य है यह सिद्ध होता है।

लेखक-विनय—

जैनी अहिंसक होता है समताभाव से और विरोधों से अछूता। आचार्यों के प्रमाणों से पूर्ण, प्रस्तुत संकलन भी जिनवाणी के स्वरूप को सुरक्षित रखने की दृष्टि से लिखा गया है—'अवि चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं।'